धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : १२

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

चैत्र
२४७२

संयुक्तांक
१०-११-१२

वार्षिक मूल्य तीन रुपया
इस अंक का एक रुपया

आत्मधर्म कार्यालय
— मोटा आंकडिया —
काठियावाड

★

एक बार हाँ तो कह

हे जीव! हे प्रभु! तू कौन है? इसका कभी विचार किया है? तेरा स्थान कौन सा है और तेरा कार्य क्या है, इसकी भी खबर है? प्रभु, विचार तो कर तू कहाँ है और यह सब क्या है, तुझे शांति क्यों नहीं है?

प्रभु! तू सिद्ध है, स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, किन्तु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है इसीलिये तुझे शांति नहीं है। भाई, वास्तव में तू घर भूला है, मार्ग भूल गया है। दूसरे के घर को तू अपना निवास मान बैठा है किन्तु ऐसे अशांति का अंत नहीं होगा।

भगवन! शांति तो तेरे अपने घर में ही भरी हुई है। भाई! एक बार सब ओर से अपना लक्ष हटाकर निज घर में तो देख। तू प्रभु है, तू सिद्ध है। प्रभु, तू अपने निज घर में देख, पर में मत देख। पर में लक्ष्य कर करके तो तू अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अंतरस्वरूप की ओर तो दृष्टि डाल। एक बार तो भीतर देख। भीतर परम आनंद का अनंत भंडार भरा हुआ है, उसे तनिक सम्हाल तो देख। एक बार भीतर को झांक, तुझे अपने स्वभाव का कोई अपूर्व, परम, सहज, सुख अनुभव होगा।

अनंत ज्ञानियों ने कहा है कि तू प्रभु है, प्रभु! तू अपने प्रभुत्व की एक बार, हाँ तो कह।

– श्री कानजी स्वामी

इतना विलम्ब क्यों ?

हिन्दी आत्मधर्म को प्रकाशित होते एक वर्ष पूरा हो रहा है। इस वर्ष के बीच में आत्मधर्म की अनियमितता के कारण ग्राहकों को अनेक बार आकुलता के लिये मैं अपने को दोषी मानता हूँ और इसीलिये मैं समस्त ग्राहकों से क्षमा याचना कर रहा हूँ। मुझे इस प्रकार क्षमा याचना कर लेने से संतोष नहीं है, इसलिये मैं हिन्दी आत्मधर्म के प्रकाशन की अनियमितता के संबंध में कुछ अधिक स्पष्ट निवेदन कर देना चाहता हूँ।

जब गुजराती आत्मधर्म का हिन्दी अनुवाद करने का विचार हुआ, तब यह कार्य एक योग्य व्यक्ति को सौंपा गया और उनने कुछ पृष्ठों का अनुवाद करके दिया जो माननीय पं. नाथूरामजी प्रेमी (बम्बई) को दिखाया गया। किन्तु उनने उसे बिल्कुल पसंद नहीं किया, तब उनसे तथा श्री भानकुमार जैन (बम्बई) से निवेदन किया गया कि वे कोई अच्छा अनुवादक बतायें जो भाषा, भाव और सिद्धांत की रक्षा करते हुये गुजराती से ठीक-ठीक हिन्दी अनुवाद कर सके। उपरोक्त दोनों सज्जनों ने इस कार्य के लिये पं. परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ (सूरत) का नाम सूचित किया जो उस समय जैनमित्र कार्यालय से निवृत्त होकर अन्यत्र जाने की तैयारी कर रहे थे। मैंने उन्हें तार देकर उनसे मिलने की स्वीकृति प्राप्त कर ली और रात्रि को बम्बई से सूरत पहुंच गया। और हम दोनों अपरिचितों के बीच रात्रि में आत्मधर्म के अनुवाद के संबंध में काफी चर्चा हुई और अंत में उनने मेरे आग्रह को स्वीकार करके आत्मधर्म के अनुवाद करने का वचन दे दिया। और मैं उसी रात को चार बजे सूरत से सोनगढ़ के लिये रवाना हो गया।

यद्यपि पं. परमेष्ठीदासजी ने वचन दे दिया था कि वीर संवत् २४७१ की महावीर जयंति पर हिन्दी आत्मधर्म का प्रथमांक प्रगट हो जायगा किन्तु वे सूरत छोड़कर देहली चले गये और वहाँ जाकर उन पर 'वीर' पत्र के संपादन का तथा दि. जैन परिषद का भार आ गया। इस प्रकार वे नये उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में लग गये और आत्मधर्म के अनुवाद के लिये बड़ी ही कठिनाई के साथ थोड़ा-थोड़ा समय निकाल सके, यही कारण है कि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का प्रथमांक वैसाख शुक्ला द्वितीया को प्रगट हो सका।

इसी प्रकार नये उत्तरदायित्व के बोझ के कारण पं.जी अतिशय इच्छा होते हुये भी उसके बाद भी आत्मधर्म के अनुवाद का कार्य नियमित नहीं कर सके और इसीलिये आत्मधर्म का प्रकाशन अनियमित होता गया। कभी कभी अंक की पूर्ति के लिये ऐसे भी लेख देना पड़े जो उनके द्वारा अनुवादित नहीं थे, इसलिये उनकी भाषा इत्यादि ठीक नहीं बन पाई। मैं स्वयं देहली जाकर पं.जी की परिस्थिति को देख आया था और तब मैंने जाना कि वे आत्मधर्म के लिये अपनी

शक्ति से भी अधिक परिश्रम कर रहे हैं। यही कारण है कि आत्मधर्म का प्रकाशन अत्यंत अनियमित हो जाने पर भी मैं उन्हें कुछ नहीं लिख सकता था। पं. जी के मन में भी इस अनियमितता के कारण निरंतर आकुलता बनी रहती थी और इसलिये उनने मुझे अनेकबार आग्रह पूर्वक लिखा कि आप आत्मधर्म के लिये किसी अन्य अनुवादक की व्यवस्था कर लें तो बड़ी कृपा होगी, किन्तु मैं पं. जी को इस उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर सकता था। क्योंकि उनकी तरह सुंदर, सुयोग्य और सिद्धांतानुकूल अनुवाद करने वाला न तो मेरी दृष्टि में तब था और न आज भी कोई है।

आत्मधर्म की अनियमितता के कारण जहाँ ग्राहकों की बारम्बार शिकायतें आती रहीं वहाँ आत्मधर्म के लेखों के प्रति वे अपना आदर और शुभेच्छा भी व्यक्त करते रहे। जैसे तैसे ६ अंक प्रगट हुये और मेरा विश्वास टूट गया। अंत में मैं शेष ६ अंकों का अनुवाद तैयार करवाकर अपने ही साथ लाने के विचार से पं. परमेष्ठीदासजी के पास दिल्ली जा पहुँचा और उनके पास एक मास रहकर तीन अंकों का मेटर तैयार करवा लिया। तथा 'मुक्ति का मार्ग' भी आधा तैयार करवा लिया। तत्पश्चात् नियमित कार्य होते रहने की व्यवस्था करके और वैसा विश्वास लेकर मैं सोनगढ़ चला आया। किंत दैवयोग की बात है कि पंडितजी को 'टाइडफाइड' बुखार ने धर दबाया और यह कार्य काफी समय के लिये बंद हो गया। यही कारण है कि जो चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को संयुक्तांक (१०-११-१२ वां अंक) प्रगट करने की तथा 'मुक्ति का मार्ग' पुस्तक भेंट में देने की घोषणा की गई थी, उसका समय पर पालन न हो सका।

स्वस्थ होने के बाद पं. जी ने नियमित कार्य करना प्रारंभ कर दिया है और इसलिये ग्राहकों के पास 'मुक्ति का मार्ग' और १३ वां अंक भेजा जा चुका है तथा यह संयुक्तांक भी उनकी सेवा में जा रहा है। मैं अब अपने पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्य में आत्मधर्म नियमित समय पर निकलता रहेगा। आशा है आप सब द्वितीय वर्ष में भी आत्मधर्म के ग्राहक बने रहेंगे। इतना ही नहीं किन्तु अन्य साधर्मी भाई-बहिनों को भी आत्मधर्म का ग्राहक होने के लिये प्रेरित करेंगे तथा जिनमंदिरों, स्वाध्याय मंदिरों, पंचायतों, पाठशालाओं और अन्य संस्थाओं में आत्मधर्म पहुँचाने की व्यवस्था करेंगे।

अन्त में मैं उन सब भाईयों का अंत:करण पूर्वक आभार मानता हूँ जिनने गतवर्ष में आत्मधर्म के प्रकाशन और प्रचार में सहयोग दिया। आशा है दूसरे वर्ष में इससे भी अधिक सहयोग प्राप्त होगा।

निवेदक

जमु रवाणी, १-७-४६

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : १२

: : आत्मधर्म : :

चैत्र
२४७२

अन्तरात्मा के प्रति

अहो! शान्तमूर्ति अन्तरात्मा! तू अपने आप ही प्रसन्न रह; तू यह व्यर्थ की आशा छोड़ दे कि तुझे कोई अन्य प्रसन्न रखेगा।

यदि तू स्वयं अपने आपको पूर्ण स्वरूप में नहीं लायगा तो दूसरा कोई तुझे क्या दे देगा? जिन्हें किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं है, उनके पास से माँगना भी क्या और जो बेचारे स्वयं ही राग-द्वेषभाव से पीड़ित हैं, वे दूसरे का हित कर ही क्या सकते हैं? इसलिये—

हे सहज पूर्ण आनन्दी अन्तरात्मा! अपूर्णता का त्याग कर, जगत निज से पूर्ण है, तू स्वतः पूर्ण स्वरूप में आजा, तू शीतल-शान्त ज्ञानस्वभाव से भरपूर है, उसे बाह्य प्रवृत्तियों की तरंगों से आन्दोलित करने के विभाव को छोड़ दे।

हे शुभभावनाओं! तुमने अशुभ के स्थान को तो भर दिया किन्तु अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं है। मैं अपने ज्ञायकभाव में लीन होता हूँ। तुमसे भी भावतः निवृत्त होता हूँ-पृथक् होता हूँ।

हे पूर्वकर्मोदय! तुमने भी सत्ता में रहना बन्द कर दिया है और उदय में आना चालू रखा है, यह भी तुम्हारा उपकार ही है कि मुझे तत्काल पृथक होने में सहायभूत बन रहे हो; क्योंकि मैंने यह जान लिया है कि मेरा स्वरूप तुमसे जुदा है।

हे आत्मा! बाह्य जंगल अथवा वन में भी शान्ति नहीं है, इसलिए अन्तररूपी जंगल में अपने सहज ज्ञानानन्दरूपी वन की अनुभवनीय सुवास लेकर स्वाधीन हो जा। बाह्य में स्वाधीनता कहीं से भी नहीं मिलती।

हे जीव! संसार में रहकर तू इष्टानिष्ट संयोगों के प्रति हर्ष या विषाद भाव रखता है। क्या तू अपने में असंसार भावना को प्रबल करके परम आनन्दमय नहीं बन सकता?

यदि यह मालूम हो जाय कि दूसरे भाव से कुछ लाभ नहीं हो सकता तो एक स्वभाव से जितना लाभ लिया जाय ले ले; उसमें कभी भी कमी नहीं आ सकती, यह दृढ़ विश्वास रखकर समय व्यतीत किये जा।

आयु आत्मा की नहीं, कर्म की है। कर्म, आत्मा के नहीं पुद्गल के हैं। तू स्वद्रव्य में लीन हो जा; परद्रव्य सब अपनी-अपनी सम्हाल कर लेंगे। अचिन्त्य आत्मस्वरूप को सहज सुगमता से प्राप्त हो चुके सिद्ध भगवन्त! तुम्हें कोटि कोटि प्रणाम हो।

शुभभाव भी राग है-विकार है, उसे धर्म माननेवाला

आत्मा के स्वरूप की हत्या करता है

[परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

जिसे आत्मा की स्वतंत्रता चाहिये है, उसे पहले यह निर्णय करना होगा कि 'कर्म और पराधीन भाव से आत्मा की स्वतंत्रता प्रकट नहीं हो सकती।'

यह देह तो जड़ है। इससे भिन्न अरूपी आत्मा दर्शन-ज्ञान, आनन्द स्वरूप है। उसमें जो वर्तमान दु:ख लगता है, उसका कारण यह भाव है कि 'आत्मा को पर की आवश्यकता पड़ती है।' वह भाव क्षणिक और विकारी है। आत्मा के निजस्वरूप का वह भाव नहीं है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का आश्रय मांगता है, यह भाव शुद्ध नहीं है। आत्मा (ज्ञानस्वभावी वस्तु) अपने सुख के लिए पर का आधार मांगता है। वह सब भाव दु:खरूप है और परवस्तु उस भाव में निमित्त मात्र है। ऐसा निर्णय किये बिना सुख प्रकट नहीं हो सकता कि-मेरे निराकुल सुख में पुण्य-पाप का कोई भी भाव सहायक नहीं है।

आत्मा दु:ख स्वरूप है ही नहीं। आनन्द ही उसका स्वभाव है; किन्तु मुझसे मुझे सुख है-ऐसी स्वरूप की श्रद्धा से आत्मा अनादि काल से भ्रष्ट हो रहा है, इसलिए सुख प्रकट नहीं हो रहा है। शरीर, मन, वाणी तो पर हैं। वे सुखदायक या दु:खदायक नहीं हैं। पर के लिये जो पाप भाव है, वह सुखदायक नहीं है और जो दया, दानादि के शुभभाव होते हैं; वे भी आत्मा के सहज सुख के लिए सहायक नहीं।

क्या तो छोड़ने लायक है और ग्रहण करने लायक है, इसका विवेक हुए बिना कभी सुख का अंश भी नहीं प्रगटता।

आत्मा शुद्ध है। उसमें दया, व्रतादि के शुभभाव भी विषतुल्य है-पराधीनता है। इसलिए उनसे रहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करो।

आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है। उसमें शरीरादि पर की क्रिया लाभ या हानि का कारण नहीं है तथा जो शुभभाव होते हैं, वे भी मोक्षसुख के कारण नहीं है। आत्मा के स्वाधीन सुख का कारण परवस्तु हो ही नहीं सकती। पाप छोड़ने के लिये तो साधारण जनता (छोटा सा बालक) भी कह रही है, वह अपूर्व नहीं है। अनन्त काल में अचिन्त्य मानव देह मिली है, यदि उसमें स्वाधीन तत्त्व की श्रद्धा के बीज नहीं बोये तो कहना होगा कि उसमें अपूर्व कुछ नहीं किया। प्रत्येक प्राणी पुण्य तो अनन्त बार कर चुका है। यहाँ तो आचार्यदेव उस स्वरूप को बता रहे हैं जो अनादि काल

से अभी तक समझ में नहीं आया। भीतर जो शुभ लगन है, वह राग है-विकार है। उसके द्वारा धर्म माननेवाला आत्मा के स्वरूप की हत्या करता है। जब इस प्रकार की बलपूर्वक बात कही जाती है, तब शिष्य प्रश्न करता है कि (- जिसे आत्मा की पहचान की प्रतीति नहीं है—ऐसा अनादि मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव शिष्य यहाँ पर तर्क करता है।)

आप यह पहले से ही कहते आए हैं कि आत्मा शुद्ध है; वह देह, मन, वाणी से भिन्न है और पुण्य-पाप के क्षणिक भावों से भी भिन्न है, उसकी श्रद्धा करो। इस प्रकार आपने तो पहले से ही शुद्ध की बात कह डाली। हमारे (मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव जिन्हें आत्मा की पहचान नहीं है—ऐसे अज्ञानी जीवों के) तो आत्मा शुद्ध होना होगा तब होगा, किन्तु पहले हमें कुछ पुण्य क्रिया भी तो करने दो। ऐसा करने पर धीरे-धीरे शुद्ध हो जायेगा। आप उसे पहले से ही शुद्ध क्यों बताते हैं? शुद्ध आत्मा की उपासना का ही प्रयास करने की बात क्यों कहते हैं? शुभक्रिया क्यों नहीं बतलाते? क्योंकि आत्मा की शुद्धि तो प्रतिक्रमणादि से ही होती है। आत्मगुण के प्रेरणाकारक (निमित्त) देव-गुरु के दर्शन और उनकी भक्ति में लगने से, विषयों के त्याग से, पाप की निन्दा करने से, और प्रायश्चित आदि करने से तथा ऐसे ही अन्य भावों के करते रहने से हमारे आत्मा का उद्धार हो जायगा; किन्तु आप इसमें से कुछ भी न कह कर सर्व प्रथम शुद्ध आत्मा को समझने की बात क्यों करते हैं?

उत्तर—जहाँ धर्म समझने की बात कही जाती है, वहाँ पुण्य और पाप दोनों को छोड़ने की बात आती है। पाप को छोड़कर पुण्य से धर्म मानकर तो तू अनादि काल से चक्कर लगा रहा है। यह मानव देह भी चली जायगी। यदि तूने अभी भी शुद्ध आत्मा की पहचान नहीं की तो तेरा कहाँ ठिकाना होगा? यहाँ से उड़कर न जाने कहाँ चला जायगा?

क्या कहा जा सकता है कि ये हलके तृण आँधी में उड़कर कहाँ चले जायेंगे? भारी कंकड़ (वजनदार होने से) नहीं उड़ा करते। इसी प्रकार सच्ची श्रद्धा के बल के बिना यह आत्मा चौरासी के चक्कर में न जाने कहाँ फिरेगा—इसका कोई पता नहीं है। आत्मा में जो पुण्य-पाप है, वह मैं हूँ और शरीर, मन तथा वाणी मेरे हैं - इस प्रकार की मान्यता में सम्यक् श्रद्धा का वजन नहीं है। इसलिये वह आत्मा चौरासी में परिभ्रमण कर रहा है। 'मैं पुण्य-पाप रहित शुद्ध निर्मल हूँ।' इस प्रकार आत्मश्रद्धा की महत्ता के भार बिना यह आत्मा कहाँ उड़ जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है।

जैसे कोई युवक शादी के समय भारपूर्वक यह आग्रह रखे कि श्वसुर पक्ष चाहे जितना प्रयत्न करे किन्तु मैं अमुक नेग लेकर ही रहूँगा; मैं अपने इस निश्चय से किंचित् मात्र भी नहीं

हटूँगा। उसी प्रकार मुक्तिरूपी कन्या को लेने के लिए (राग-द्वेष होने पर भी) निर्णय में तो भार रख, पर में उत्साह और हर्ष का एक बार इनकार कर और आत्मा का हर्ष तो मन में ला। आत्मा पवित्र, चिदानन्द शुद्ध है, इस प्रकार का भार थोड़े समय के लिए भी अपने में ला और पुण्य-पाप से विचलित न हो तो निश्चय से तुझे निकटभविष्य में आत्मपरिणतिरूपी कन्या की प्राप्ति होगी।

अरे भाई! स्वतंत्र स्वभाव की श्रद्धा तो कर! मैं शुद्धस्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, इसलिये मुझे इस शुभ में आना पड़ता है; इस प्रकार शुभ का इंकार करके आत्मा के गुण का भार ला। इस भार में तुझे पूर्णशुद्ध परिणतिरूप कन्या मिल जायगी।

परवस्तु से तृष्णा कम करने पर पुण्य होता है। यहाँ शिष्य कहना चाहता है कि 'उस पुण्य के कारण आत्मा को धर्म प्राप्त होता है।' वह कहता है कि—

हमें पहले से ही शुद्ध आत्मा की उपासना करने का प्रयत्न कठिन मालूम होता है, हम तो अभी पुण्य-पाप में ही पड़े हुए हैं और आप पुण्य-पाप रहित की श्रद्धा की बात कर रहे हैं। हमारे लिए पापभाव विष समान है और प्रतिक्रमणादि (आत्मभान के बिना) करना अमृतकुम्भ है। व्यवहार श्रद्धा, णमोकार मंत्र, देव-गुरु की भक्ति तथा व्रत-तप इत्यादि से हमारे आत्मा की शुद्धता प्रकट हो जायगी। इस प्रकार शिष्य का तर्क है।

आचार्य महाराज निश्चयनय की प्रधानता से उत्तर देते हुए इस तर्क का समाधान करते हैं—

सुन, आत्मभान के बिना मात्र दयादिभाव विषतुल्य हैं, इतना ही नहीं किन्तु सम्यक् श्रद्धा के बाद जो शुभभाव आते हैं, वे भी विषतुल्य कहे गये हैं। पुण्यभाव आत्मा के अमृतकुम्भ का विरोध करके होते हैं; इसलिये आठों बोल (प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि) विष हैं।

प्रतिक्रमण-हिंसादिभाव से 'मिच्छामि दुक्कडं' करना अर्थात् पाप से निवृत्त होना, इस शुभभाव को भी भगवान ने विष कहा है। क्योंकि वह आत्मा के अमृतकुम्भ का नाश करके होता है। आचार्य महाराज ने उपदेश किया है कि तू उसे छोड़कर आत्मा में स्थिर हो जा। शुभभाव को शुभ तो हम कहते हैं किन्तु हम **शुभभाव को धर्म का कारण नहीं मानते।**

तू अनन्तकाल से परिभ्रमण कर रहा है। इसका कारण यह है कि तू पाप को छोड़ने में और पुण्य को धर्म मानने में ही लग रहा है।

सम्पूर्ण वीतरागदशा प्रगट होने से पूर्व अशुभ को छोड़ने के लिए ज्ञानियों को भी भक्ति

आदि शुभ का अवलम्बन आता है। परन्तु वे उससे धर्म नहीं मानते और अज्ञानी शुभ में धर्म मान बैठा है। यही ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अन्तर है।

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि जिसे अनन्तकाल में कभी भी प्रगट नहीं हुई अपूर्व आत्मजीवन की शुद्धता इसी मानवजीवन में प्रगट करना है, उसे सर्व प्रथम ऐसी श्रद्धा का बल प्राप्त करना चाहिये कि 'आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा यह शुभक्रिया भी विष है।' ऐसी श्रद्धा के बिना पुण्य-पाप का हलकापन दूर होकर मोक्ष की गुरुता कहाँ से आएगी?

विषय-कषाय से मुक्त तो होना ही चाहिए; किन्तु 'विषय-कषाय से छूट जाऊँ' इस वृत्ति से भी यहाँ पर छूटना कहा गया है। स्वरूप, निन्दा-गर्हा रहित है। यदि तुझ से बन पड़े तो श्रद्धा और चारित्र दोनों कर; किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो जैसा है, वैसी श्रद्धा तो अवश्य कर, मात्र उसकी श्रद्धा से तू जन्म-मरण से मुक्त हो जायगा।

आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप, अमृतकुम्भ है। यदि उसमें से शरीरादि के संसर्ग को दूर कर दिया जाए तो चैतन्यमूर्ति ही है।

आत्मा स्वयं ही अमृतकुम्भ है। उसका स्वभाव निर्दोष वीतराग है। जो शुभ और अशुभ भाव दिखाई देते हैं, वे क्षणिक नये होते हैं। वे नाशवान हैं और आत्मा त्रिकाल अमृत का सागर है। जो भीतर जाननेवाला है, वह ज्ञान स्वभाव है। ऐसे ज्ञानादिक अनन्त गुण हैं। उस सभी गुणों का समुद्र चैतन्य स्वयं है। वह स्वरूप अमृतकुम्भ हैं; किन्तु पर से-पुण्य से लाभ होता है, इस मान्यता ने उसे विषमय बना दिया है।

भगवन्! तू अमृतकुम्भ है। यदि तू उसमें न टिक सके तो भी श्रद्धा तो उसी की कर। उसकी श्रद्धा और प्रतीति करने से तेरा अमृतकुम्भ स्वभाव खुल जायगा। तेरा आत्मा पुण्य-पाप के विकारों का नाश करके क्रमशः स्वभावमूर्ति के पा लेगा। इस प्रकार सर्वप्रथम शुद्धस्वरूप के सेवन की आवश्यकता है। शुभभाव, आत्मा की शुद्धि का निमित्त, शुद्ध की श्रद्धा के बिना अंशमात्र भी नहीं है - कहनेमात्र को भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि के लिए जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादिक हैं, वे सब अपराधरूपी विष के दोषों को कम करने में समर्थ होने के कारण व्यवहारदृष्टि से अमृतकुम्भ कहे गये हैं।

अज्ञानी के पुण्यभाव भी शुद्ध आत्मा की सिद्धि में अभावरूप होने के कारण विषमय हैं। इसलिए उसकी तो बात ही क्या की जाय?

तू पुण्य की बात तो अनन्त काल से करता आया है, इसलिए वह बिना सीखे ही आ जाता हैं किन्तु हम तो यहाँ धर्म का स्वरूप बताना चाहते हैं, जबकि हम धर्मी (आत्मा) का धर्म बताना

चाहते हैं, तब पाप की तो बात ही नहीं हो सकती। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नीतिवान के हिंसादिक परिणाम होता ही नहीं है और वह लौकिक नीति अनन्तबार की गई है। हमें तो यहाँ तुझे धर्म बताना है, तेरी जन्म-मरण की भूख दूर करनी है। तूने अनन्तकाल से धर्म का उपाय ग्रहण नहीं किया।

जिसे आत्मा के स्वतंत्र, सहजशुद्ध, शाश्वत स्वरूप की प्राप्ति करनी हो, उसे पाप तो छोड़ना ही है। यहाँ पर यथार्थ समझ के बिना जो शुभभाव है, उनकी भी बात नहीं है, किन्तु सच्ची समझ के बाद जो प्रतिक्रमणादि शुभभाव होते हैं वे आत्मा की शुद्धता के निमित्त कारण हैं। इसलिए उन्हें व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है।

ऐसा भान होने पर कि मैं शुद्ध पवित्र हूँ, आत्मा में होनेवाले अशुभभाव तथा प्रतिक्रमणादि शुभभाव दोनों क्रम-क्रम से दूर हो जाते हैं। इसलिए आत्मा शुद्धदशा में पहुँच जाता है। अर्थात् उसके पीछे शुद्धदृष्टि का बल हो जाता है। इसीलिए प्रतिक्रमणादि शुभभाव को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है। स्व में स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए शुभभाव आते हैं—ऐसी प्रतीति के साथ जो शुभभाव होते हैं, उन्हें भी भगवान ने निश्चय से विष कहा है।

शुद्धदृष्टि के बल से युक्त होने के कारण उस जीव के शुभभाव दूर होकर वह शुद्धदशा में जानेवाला है, इस अपेक्षा से तथा शुद्ध की दृष्टि से शुभ का कर्तव्य नहीं है और शुद्ध स्वभाव की प्रतीति है; इसलिए उस शुभ को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है।

शुद्ध की प्रतीति होने पर ज्ञानी शुभ में लग जाता है। तब आत्मा की पहचान होने से उस शुभभाव को व्यवहार से (उपर्युक्त अपेक्षा से) अमृतकुम्भ कहा है। अज्ञानी के तो शुभभाव भी विष है, क्योंकि उसके पीछे उसका लक्ष्य शुद्ध की ओर नहीं है किन्तु उसके शुभ का कर्तृत्व है।

सबको स्वतंत्रता चाहिये है किन्तु वे यह नहीं जानते कि स्वतन्त्रता आती कैसे है? भाई! यदि तूने आत्मा की स्वतन्त्रता की अपूर्व प्रतीति इस जीवन में भी न कर पाई तो तेरा जीवन मकड़ी जैसा ही हुआ। अरे भाई! देह या रुपया इत्यादि कोई भी परवस्तु आत्मा की स्वतंत्रता में सहायक नहीं हो सकती। स्वतंत्रता बाहर से नहीं आती किन्तु वह आत्मा में ही है। यदि आत्मा की स्वतंत्रता को नहीं समझोगे तो पराधीनता की बेड़ी में जकड़े ही रहोगे। आत्मा के स्वतंत्रतस्वरूप की प्रतीति हुए बिना कभी स्वतंत्र होने की योग्यता ही नहीं आ सकती।

जिसने जीवन में चैतन्य की पृथक्ता को नहीं जाना और जो मरते समय शरण के भाव को प्राप्त नहीं कर सका, वह मरने के बाद केवलज्ञान के साथ की सन्धि को कहाँ से पायगा? और जिसने जीवन में चैतन्य की जुदाई को जान लिया है तथा मरते समय शरण को प्राप्त कर

लिया है, वह मरकर भी अपने साथ केवलज्ञान प्राप्त करने की सन्धि को लेकर जाता है। इसलिये वह जहाँ जायगा, वहाँ पूर्णता का पुरुषार्थ प्राप्त करके पूर्ण हो जायगा।

अरे भाई! तूने अपने महत्त्व को नहीं सुना। जिस भाव से रुपया पैसा इत्यादि मिलता है, उस भाव की जब तक मिठास मौजूद है, तब तक तूने छोड़ा ही क्या है? अन्तरंग से जिसके पुण्य की मिठास दूर नहीं हुई है, उसका त्याग भी द्वेषभाव से है। आत्मा शुद्ध है, पुण्य-पाप के परिणाम होने जितना वह नहीं है, इस प्रकार की दृष्टि में जो शुभभाव होता है, उसे व्यवहार से अमृत कुंभ कहा है। अज्ञानी के शुभभाव में पाप को दूर करने की अंशमात्र भी शक्ति नहीं है और शुद्ध की प्रतीति के साथ शुभ में पाप दूर करने की आंशिक शक्ति है। ज्ञानी के भी वीतराग होने से पूर्व शुभभाव सर्वथा नहीं छूटता, किन्तु श्रद्धा में जो पुण्यभाव है, वह न तो मोक्षमार्ग है और न उसका कारण है। ऐसी शुद्ध की दृष्टि होने से उसके शुभ में अशुभ को दूर करने की आंशिक शक्ति है, जिसे अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण रहित तीसरी भूमिका की प्रतीति नहीं है, उसके मात्र शुभभाव विषतुल्य हैं। इसीलिये वह मात्र बंधन है। यदि वह अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण के भेद से रहित तीसरी भूमिका की श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो गया तो समझना चाहिये कि वह साक्षात् अमृत ही है। किन्तु यदि स्थिर नहीं हो सका और श्रद्धा रखकर शुभ में प्रयुक्त हुआ तो भी वह व्यवहार से अमृत है।

धर्म किसे समझाया जाए?

जो संसार में पड़े हुये हैं—ऐसे अज्ञानी को या मुनि को? मुनि को तो धर्म समझाया नहीं जाता क्योंकि मुनित्व धर्म समझने के बाद ही होता है; धर्म को समझे बिना किसी के मुनित्व हो ही नहीं सकता। मुनित्व बाह्य त्याग में नहीं, किन्तु आंतरिक समझ में है। बिना समझ के त्याग किसका? उसने तो उलटा (पुण्य-पापरहित) आत्मा को ही छोड़ दिया (जिसे अंतरंग में पुण्य की रुचि है, उसने पुण्य-पाप रहित आत्मा को छोड़ दिया है)।

यह तो नग्न सत्य है, सत्य किसी की शरम नहीं रखता। जो सत्य है वह त्रिकाल में सत्य ही है, सत्य कभी बदल नहीं सकता, सत्य को समझने के लिये तुझे मिथ्या प्रतीति बदलना पड़ेगा। जगत् माने या न माने, उसके साथ सत्य का कोई संबंध नहीं है। सर्वकाल और सर्वक्षेत्र में सत्य एक ही प्रकार से है।

पहली आवश्यकता आत्मा की श्रद्धा की है, उसके बिना धर्म की बात नहीं हो सकती। पहला उपदेश आत्मा की श्रद्धा का ही होना चाहिये; उसके बिना उपदेश भी यथार्थ नहीं हो सकता। यदि कोई पुण्य करने के लिए कहे और यह कहे कि यह पुण्य करते-करते धर्म प्राप्त

हो जाएगा और साथ ही यह कहे कि यह धर्म की बात है तो यह कदापि नहीं हो सकता। धर्म के उपदेश में सर्व प्रथम आत्म-श्रद्धा की आवश्यकता है, यह बात सबसे पहले होती है, अन्यथा उपदेशक को स्पष्ट कह देना चाहिये कि यहाँ धर्म की बात नहीं है किन्तु पुण्य की बात है। धर्म क्या है ? इसे समझना नहीं है और अपना बाहिरी बड़प्पन छोड़ना नहीं है तो जानना चाहिये कि सब पुण्य से धर्म मानते हैं और मनाते हैं और इस मान्यता का फल संसार है।

पुण्य से धर्म नहीं होता—ऐसी श्रद्धा करने के बाद जो शुभभाव होता है, उसे व्यवहार से अमृतकुंभ कहा है। किन्तु प्रतीति रहित शुभभाव तो व्यवहार से भी अमृतकुंभ नहीं है। निश्चय होता है, तभी व्यवहार होता है। बिना निश्चय के अकेला व्यवहार नहीं हो सकता। आत्मा की श्रद्धा के बिना चाहे जितना शुभभाव करे तो भी वह केवल अपना अपराधी ही है, वह बंधन में जकड़ा हुआ ही है।

''अच्छा करना है'' यों सभी कहते हैं किन्तु यदि अच्छाई आत्मा में नहीं होती तो बाहर से कहाँ से आयेगी ? इसका अर्थ यह हुआ कि जो अच्छा करना है, वह अच्छाई आत्मा में ही है किन्तु उसकी श्रद्धा नहीं है, इसलिये अच्छाई बाहर से मानता है। आत्मश्रद्धा के बिना मंदिर में पूजा, भक्ति इत्यादि सब, आत्मा का अपराध है। ज्ञानी को सच्ची वस्तु की ओर उन्मुख होने के भाव से जैसे उच्च प्रकार के शुभभाव होते है, वैसे अज्ञानी नहीं कर सकता। इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव इत्यादिक लौकिक महान पद भी यथार्थ प्रतीति के बिना नहीं हो सकते। निरपराधपन, अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण के भेद से रहित तीसरी भूमिका में ही है। इसलिये उस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के लिये ही प्रतीति युक्त जीव के प्रतिक्रमणादि होते हैं, उनके लिये वह व्यवहार से तीसरी भूमि का कारण कहलाता है।

यहाँ यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह शास्त्र पुण्य को छुड़ाकर अशुभ में लगाता है किन्तु पहले श्रद्धा में शुभ-अशुभ दोनों को छुड़ाकर पश्चात् जब क्रमशः वीतराग होता है, तब सर्वथा छूट जाता है।

यह शास्त्र इतने से ही (शुभ-अशुभ दोनों को छुड़ाने का उपदेश देकर) नहीं रुक जाता, किन्तु कुछ अपूर्व अति दुष्कर कार्य कराता है।

अंत में -

निश्चय सहित व्यवहार ही मोक्षमार्ग में आता है। निश्चय की प्रतीति से रहित व्यवहार बंधन ही है। सम्यक् प्रतीति के बाद शुद्ध में स्थिर हो। जब शुद्ध में स्थिर नहीं हुआ जा सकता, तब शुभभाव में प्रयुक्त होनेरूप व्यवहार आता है। किन्तु शुद्ध की प्रतीति के बिना मात्र शुभ को तो व्यवहार भी नहीं कहा है। ★

विश्व प्रेम

लेखक — रामजीभाई माणेकचंद दोशी

प्रश्न—आत्मधर्म के पाँचवें अंक में 'आत्मा का हित मोक्ष ही है,' शीर्षकवाला लेख पढ़ा था। क्या उसमें विश्व प्रेम का स्वरूप आ जाता है?

उत्तर—हाँ, उस लेख में जो स्वरूप कहा गया है, उसमें विश्वप्रेम का स्वरूप आ जाता है।

प्रश्न—क्या ही अच्छा हो यदि आप इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करके बताएं।

उत्तर—(अ) 'विश्व का अर्थ है जगत के सर्व पदार्थ'—छहों द्रव्य जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) सिद्ध जीव, संसारी जीव जिनकी संख्या अनन्त है।

(२) समस्त प्रकार के (स्कन्ध सहित) अनन्तानंत पुद्गल द्रव्य।

(३) एक धर्मास्तिकाय।

(४) एक अधर्मास्तिकाय।

(५) एक आकाश।

(६) असंख्यात कालाणु।

(ब) 'प्रेम' दो प्रकार का है। एक रागरहित प्रेम, दूसरा रागसहित प्रेम। उनमें से रागरहित प्रेम विश्व प्रेम है क्योंकि उसमें समस्त द्रव्यों के प्रति समभाव है। राग-द्वेष नहीं है। 'विश्व प्रेम' का दूसरा नाम है समानभाव अथवा समभाव। वस्तु, गुण और उनकी अवस्थाएं जैसी हैं, उन्हें उसी प्रकार जानना और उनके प्रति राग-द्वेष न करना सच्चा विश्व प्रेम है।

प्रश्न—उस लेख में 'आत्मा का हित एक मोक्ष ही है' इस स्वरूप का भाग कौन सा है, यह बताइये।

उत्तर—उस लेख के निम्निलिखित अंश में वह विषय आ जाता है।

'जिसके अन्तरंग में आकुलता है, वह दु:खी है तथा जिसके आकुलता नहीं है, वह सुखी है और आकुलता, रागादि कषाय भावों के होने पर होती है। क्योंकि रागादि भावों के द्वारा यह जीव समस्त द्रव्यों को अन्यरूप परिणमित करना चाहता है और जब वे द्रव्य अन्य प्रकार से परिणमित होते हैं, तब उसे आकुलता होती है। इसलिये या तो अपने रागादिभाव दूर होने चाहिए अथवा अपनी इच्छानुसार ही सर्व द्रव्य परिणमन करें तो आकुलता मिट जाय।

अब बात तो यह है कि सर्व द्रव्य तो इसके आधीन हैं नहीं, फिर कभी कोई द्रव्य उसी प्रकार परिणमन करे, जैसी उसकी इच्छा हो तो भी उसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। यदि

सभी कार्य उसकी इच्छानुसार ही हों, अन्यथा न हों तभी वह निराकुल रह सकता है; किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है। किन्तु अपने रागादिभाव दूर होने पर निराकुलता होती है, और यह कार्य बन भी सकता है—वह स्वाधीन बात है; क्योंकि रागादिभाव आत्मा के स्वाभाविक भाव तो हैं नहीं, किन्तु औपाधिक भाव है।'

प्रश्न—तब तो इसका अर्थ वह हुआ कि किसी भी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है, यों निश्चय करके परवस्तुओं के प्रति रागद्वेष न करना और निराकुलता प्रकट करना, इसी का नाम विश्व प्रेम है। आप यही कहना चाहते हैं न?

उत्तर—हाँ, यही तात्पर्य है। वैसा भाव प्रकट होने पर किसी भी जीव को दुःख देने का—प्रतिकूलता उत्पन्न करने का-प्राणहनन करने का, उसकी अनुकूलता को नष्ट करने का अथवा इसी प्रकार का कोई भी अन्य विकारभाव नहीं रहता। ऐसा भाव सिद्ध, तीर्थंकर अथवा केवलियों के नहीं होता। इसलिये वे पूर्ण और सच्चे विश्वप्रेमी हैं।

प्रश्न—सिद्ध भगवान से लोगों को क्या लाभ होता है?

उत्तर—सिद्ध भगवान के ध्यान से जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य तथा औपाधिक और स्वाभाविक भाव का ज्ञान होता है और वह ध्यान अपने को सिद्ध समान होने का साधन हो जाता है, इसलिए अपने साध्य शुद्धस्वरूप को दर्शाने के लिये सिद्ध, प्रतिबिम्ब के समान हैं। इस प्रकार सिद्ध भगवान विश्वप्रेमी हैं।

प्रश्न—इसमें अपने गाँव के लोगों को सुख देने का उनकी अनुकूलता के साधन का-उनके प्राणों को बचाने का अथवा उनकी अनुकूलताओं की वृद्धि का कोई भी भाव मालूम नहीं होता। तब फिर उसे 'प्रेम' कैसे कहा जाय?

उत्तर—अमुक व्यक्ति को ही सुख इत्यादि देने का भाव करने पर विश्व (सब) के प्रति प्रेम नहीं रहा। उसका सिद्धान्त तो वह है कि जब तक जीव अपने सच्चे स्वरूप को नहीं समझता, तब तक वह पर के प्रति कम या अधिक राग-द्वेष किये बिना नहीं रहता। इसलिए यदि किसी के प्रति राग करेगा तो वह भाव (विकारी होने से) बदले बिना नहीं रहेगा। दूसरी बात यह है कि एक अथवा अधिक के प्रति जहाँ राग होगा, वहाँ दूसरों के प्रति उसी समय द्वेष होगा क्योंकि उसने सबको समान नहीं गिना। अज्ञानी जीव के राग के बाद द्वेष हुए बिना रह ही नहीं सकता। इसलिये जीव यदि अपने स्वरूप को समझ ले, तब ही वह जगत के समस्त पदार्थों के प्रति यथार्थ भाव रख सकेगा और इसे ही 'विश्व प्रेम' कहा जायगा।

ध्यान रहे कि जीव अपने स्वरूप को समझे बिना कभी भी राग या द्वेष को दूर नहीं कर सकेगा। हाँ, उसमें हीनाधिकता किया करेगा।

प्रश्न—समस्त जीवों के प्रति एक समान रागवाला प्रेम बन सकेगा या नहीं?

उत्तर—नहीं, नहीं, कदापि नहीं बन सकेगा। समस्त जीवों के प्रति समान रागवाला प्रेम बन ही नहीं सकता। इतना ही नहीं किन्तु समस्त मनुष्यों के प्रति (जिसमें निज का भी समावेश है) भी एकसा प्रेम नहीं हो सकता। एक मनुष्य भोजन करते समय यह कदापि नहीं कह सकता कि जगत के समस्त मानव भोजन कर चुके या नहीं-अथवा भोजन कर रहे हैं या नहीं या उन सबको पर्याप्त और अच्छा भोजन मिलेगा, तभी मैं भोजन करूँगा परन्तु सबका स्वरूप जैसा है, वैसा जानकर उनके प्रति राग-द्वेष न करे, यही उनके प्रति सच्चा (अकषायी) प्रेम है।

प्रेम के दो भाग करते समय रागरहित प्रेम और रागसहित प्रेम बताया गया था। उनमें से रागरहित प्रेम के स्वरूप को पूर्णरीत्या अमल में लानेवाले वीतरागी और सिद्ध भगवान ही हैं। इसलिए उन्हें शास्त्रों में 'अकषायी करुणा सागर' कहा गया है।

प्रश्न—विश्व प्रेम को अपूर्णता से अमल में कौन ला सकता है?

उत्तर—छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीव।

प्रश्न—छद्मस्थ वीतरागी नहीं होता, उसके तो राग होता है तो फिर उसका प्रेम 'विश्वप्रेम' कैसे कहलायेगा?

उत्तर—वह यह नहीं मानता कि मैं किसी का भला या बुरा कर सकता हूँ। इसलिये जब वह अपने हित के लिए स्वयं शुद्धता में नहीं रह सकता, तब किसी को दुःख देने इत्यादि के भाव नहीं करता और लोभादि को दूर करते हुए दान इत्यादि के जो शुभभाव उसके होते हैं, उनका वह मालिक नहीं होता। इसलिये इस अपेक्षा से उसके 'अपूर्व विश्वप्रेम' कहा जा सकता है। सम्पूर्ण वीतराग होने पर वह सम्पूर्ण विश्वप्रेमी हो जाता है।

प्रश्न—जो आत्मा के स्वरूप को यथार्थरीत्या नहीं जानते—ऐसे जीवों के विश्वप्रेम हो सकता है या नहीं?

उत्तर—नहीं हो सकता। जो यह यथार्थरीत्या निश्चय करता है कि 'आत्मा का हित मोक्ष ही है?' उसी के 'विश्वप्रेम' हो सकता है।

परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री के प्रवचन महासागर में से चुने हुए

महासागर के मोती

१— जो जीव परपदार्थों में ममत्व नहीं करता, वही संसार बन्धन से छूट सकता है।

२— पुण्य-पाप के विकारी भाव और उनके फलस्वरूप संयोगी नाशवान पदार्थों की प्राप्ति के प्रति जिसे आदर है, उसे आत्मा के नित्य अविकारी स्वभाव के प्रति आदर नहीं हो सकता।

३— परवस्तु का क्षेत्रान्तर, भावान्तर अथवा अवस्थान्तर होना त्रिकाल में भी किसी के आधीन नहीं है।

४— परपदार्थ की ओर लक्ष्य का होना, सो राग है।

५— निराकुल सुख आत्मा में है, संयोगों में सुख नहीं है। फिर भी अज्ञानी जीव उनमें सुख मान रहा है। पर के आश्रय की पराधीनता ही दु:ख है।

६— पंचेन्द्रियों के विषयों में अच्छे या बुरे भाव से राग करके उनमें जम जाना, सो परमार्थ से भाव बन्धन है।

७— जिस प्रकार चक्रवर्ती शकोरा लेकर भीख माँगे, दूसरे की आशा रखे और पराश्रय को ढूंढ़े तो वह उसे शोभा नहीं देता; उसी प्रकार जो जीव, आत्मा के उत्कृष्ट स्वभाव को भूलकर पर की आशा करता है, पर की सहायता चाहता है, वह उसे शोभा नहीं देता।

८— आत्मा अरूपी, ज्ञातास्वरूप है; उसे किसी पर का कर्ता मानना, सो देहदृष्टि का अज्ञान है।

९— मैं पर का कर सकता हूँ, और पर मेरा कर सकता है, इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है।

१०— मोक्ष का कारण वीतरागता; वीतरागता का कारण अरागी चारित्र; चारित्र का कारण सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन है।

११— जीव अपने सहज स्वरूप की सम्हाल करे तो एक क्षण में सर्व-दु:खों का नाश हो जाय।

१२— जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ मैं हूँ, इस प्रकार का दृढ़भाव सम्यक्त्व है।

१३— परिणाम ही संसार और परिणाम ही मोक्ष है, इसलिए समय-समय पर परिणामों की जांच करो।

१४— जब तक विस्मय करनेवाले का (आत्मा का) विस्मय नहीं होता, तब तक पर का विस्मय दूर नहीं होता।

१५— आत्मा त्रिकाल परिपूर्ण है, इस प्रकार का विश्वास जब तक नहीं होता, तब तक पर की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती।

१६— अनन्त प्रतिकूलताओं के होते हुए भी अनन्त एकाग्रता हो सकती है।

१७— चार अघातिया कर्म संयोग के दाता हैं; ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म आत्मा में कमी उत्पन्न करते हैं और मोहनीय कर्म आत्मा में विरुद्धता उत्पन्न करता है। मैं इन आठों कर्मस्वरूप नहीं हूँ, मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ।

१८— मैं राग को छोड़ दूँ, इस प्रकार का भाव भी शुभ है; किन्तु त्रिकाली शुद्ध आत्मस्वभाव पर दृष्टि ड़ालने से रागादि छूट जाते हैं, सो निर्जरा है।

१९— निश्चय का विषय त्रैकालिक स्वभाव है, व्यवहार का विषय वर्तमान शुभाशुभ विकारी भाव है। जिनवर का कहा हुआ व्यवहार भी परिपूर्ण है और उसे परिपूर्णतया अभव्य करता है। किन्तु उसकी दृष्टि परावलम्बी है। त्रैकालिक स्वावलम्बी स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है। शुभभाव पर दृष्टि होने से वह पुण्य बाँधता है, किन्तु आत्मा का स्वभाव बिल्कुल प्रगट नहीं होता।

२०— जहाँ स्वरूप का भोक्ता होना चाहिए, वहाँ अभव्य जीव, रागादि शुभ-परभाव को भोगता है। इसलिए वह उस भोग के निमित्तरूप पुण्य की श्रद्धा करता है।

२१— जब एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की आवश्यकता होती है, तब वह पदार्थ पराधीन हुआ कहलाता है; आत्मा को परवस्तु की आवश्यकता का होना ही पराधीनता का दुःख है।

२२— विकारी अथवा अविकारी अवस्था मुझमें नहीं है, मैं तो त्रैकालिक शुद्धस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, उसके ऊपर लक्ष्य देने पर मोक्ष दूर नहीं है। उससे विपरीत भाववाले के बन्धन दूर नहीं है अर्थात् वह प्रति समय बंधता ही रहता है।

२३— पुरुषार्थ की जागृति में जो पुण्यबन्ध हो जाता है, उसके योग से अनुकूलनिमित्त मिले बिना नहीं रहता। इसलिए पुरुषार्थ की भावना होनी चाहिये, निमित्त की नहीं।

२४— निमित्त की भावना को भानेवाला विकार को ही भाता है और स्वभाव को भानेवाला वीतरागता को ही भाता है।

२५— ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध को एकरूप मानना, सो अभिप्राय की भूल है और वही बन्ध का कारण है। जो रागादिक हैं, वे ज्ञेय हैं; इसलिए उनके जानने पर ज्ञान की विशालता होती है, इस प्रकार ज्ञानी मानता है। तब अज्ञानी यह मानता है कि रागादिक मेरे हैं। कर्म मेरे आत्मज्ञान को रोकते हैं, यहाँ दृष्टि का अंतर है।

२६— स्वभाव में भव का भाव नहीं है। जो स्वभाव को अपना मानता है, उसे भव की शंका नहीं होती। जो भव के भाव को अपना मानता है, उसके भव होता है।

२७— मैं किसी परद्रव्य की अवस्था को नहीं कर सकता—यदि ऐसी मान्यता कर ले तो अनंत शांति प्राप्त हो जाय।

२८— दृष्टि का विषय अभेद, अबंध, अखंड द्रव्य है; वह पर्याय, विकल्प या निमित्त को स्वीकार नहीं करती।

२९— पंच महाव्रतादि के पालन का शुभभाव भी वीतरागचारित्रभाव में विषतुल्य है क्योंकि वह अमृत-आत्मा में बाधक हैं, मोक्ष में विघ्नरूप है।

३०— सम्यग्दृष्टि का भव न तो बिगड़ता है और न भव बढ़ता है।

३१— वाणी पर का परिणमन है, यह न मानकर मैं बोल सकता हूँ अर्थात् पर का परिणमन मेरे द्वारा होता है, यों मान बैठना सो मिथ्यादर्शन शल्य अनंत पाप है। मैं वाणी बोलने के भाव के बराबर ही (विकारी भाववाला) हूँ; इस प्रकार की मान्यता हुई कि अविकारी शुद्ध स्वभाव का अनादर हुआ और यही अनंत हिंसा है। ★

—भेद संवेदन—

अज्ञानी की दशा

अनादिकाल से अज्ञान के कारण आत्मा की भेद संवेदन (भेद ज्ञान) की शक्ति दब गयी है, इसलिए वह पर को और निज को एकरूप जानता है। वह इस प्रकार के असत् विकल्प (कल्पित तरंगें) किया करता है कि "मैं क्रोध हूँ, मैं परद्रव्य हूँ, मैं परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ, परद्रव्य मेरा कुछ कर सकता है" इत्यादि। यह पुद्गल कर्म का और अपने स्वाद को एकमेक मानकर उसके एकरूप का अनुभव करता है और इसलिए वह निर्विकल्प अकृत्रिम स्वभाव से अनादिकाल से भ्रष्ट हुआ है। इसलिए वह बारम्बार अनेक विकल्परूप में परिणत होता है और अपने को पर का तथा परभाव का (क्रोधादि का) कर्ता मानता है।

ज्ञानी की दशा

भेद संवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति ज्ञानी के प्रगट हो गई होती है। जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान के कारण ज्ञान के प्रारंभ से लेकर पुद्गल कर्म और अपना भिन्न-भिन्नरूप में अनुभव करता है और वह एकरूप में अनुभव नहीं करता। उसे दोनों के पृथक्-पृथक् स्वभाव का अनुभव होता है, इसलिए वह जानता है कि "अनादि-निधन निरंतर स्वाद में आनेवाला समस्त

अन्य रस से विलक्षण (भिन्न) अत्यंत मधुर जो चैतन्य रस है, वही जिसका एक रस है, ऐसा मैं आत्मा हूँ।'' और वह जानता है कि ''कषाय मुझसे भिन्न रसवाली हैं, उनके साथ एकरूपता का विकल्प करना, सो अज्ञान है।''

इस प्रकार ज्ञानी, पर को और निज को भिन्नरूप में जानता है। इसलिये अकृत्रिम (नित्य) एक ज्ञान ही मैं हूँ परंतु कृत्रिम (अनित्य) अनेक जो क्रोधादि हैं, वह मैं नहीं हूँ, यों जानता हुआ ''मैं क्रोध हूँ'' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता, इसलिये समस्त कर्तृत्व को प्रथम दृष्टि में छोड़ देता है और क्रम-क्रम से चारित्र में छोड़ देता है।

इस प्रकार सदा उदासीन अवस्थावान होकर मात्र जानता ही रहता है और इसलिये निर्विकल्प अकृत्रिम एक विज्ञानघन होकर अत्यंत अकर्ता प्रतिभासित होता है।

ज्ञानी की उपर्युक्त दशा अविरति सम्यग्दृष्टि से प्रारंभ होती है। ❖

❖ ❖ ❖

कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा

(परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्या)

भगवान अरहंतदेव कार्यपरमात्मा हैं। आत्मा की स्वतंत्र पूर्णानंद दशा का प्रगट होना, सो कार्य है, अर्थात् जो वह अवस्था है, सो कार्य है और उसका कारण द्रव्य स्वयं है। द्रव्य में त्रिकाल में कोई आवरण नहीं है। परमार्थतः आत्मा के कर्म के आवरण का कोई पर्दा नहीं है। वर्तमान अवस्था दृष्टि से देखते हुये एक समयमात्र की अवस्था में आवरण दिखाई देता है, किन्तु वस्तु में आवरण नहीं है।

प्रश्न—वस्तु दृष्टि से देखने पर आवरण नहीं दिखाई देता, तब क्या आवरण सर्वथा नहीं है ?

उत्तर—वस्तु के आवरण कदापि नहीं होता। एक समयमात्र के लिये विकारी अवस्था में भाव बंधन है। अरहंत भगवान के वह भाव-बंधन दूर हो गया है, इसलिये वे कार्यपरमात्मा हैं। क्योंकि उनके पूर्णदशारूपी कार्य प्रगट हो गया है, इस कार्य का कारण वस्तु स्वयं ही है। वस्तु तीनों काल में संपूर्ण आवरण रहित है।

वस्तु के आवरण हो ही नहीं सकता। आवरण कहा तहीं कि अवस्था का लक्ष्य हुआ। आत्मा तो अनंत गुणों की शक्ति का पिण्ड है। वस्तु अथवा वस्तु के गुण में कभी आवरण नहीं होता, किन्तु यदि एक समय की अवस्था को देखा जाय तो एक समय मात्र के लिये पर्याय में आवरण है।

प्रश्न—पर्याय एक ही समय की क्यों? एक पर्याय के साथ दूसरी पर्याय जुड़कर लंबी क्यों नहीं मानी जाती?

उत्तर—दो समय की पर्याय कभी इकट्ठी नहीं होती। एक समय की पर्याय के जाने पर दूसरे समय की पर्याय आती है। पहले समय की पर्याय के रहते हुये दूसरे समय की पर्याय नहीं आती, इसलिये पर्याय एक समय मात्र के लिये है।

प्रश्न—भूत-भविष्य की पर्याय को वर्तमान में मिला देने पर तो पर्याय लंबी होगी न?

उत्तर—पर्याय किसी भी प्रकार से एक समय से अधिक लंबी नहीं होती। भूत-भविष्य की पर्याय तो द्रव्य की शक्ति अर्थात् गुण है और फिर भविष्य की पर्याय वर्तमान के साथ मिल ही नहीं सकती क्योंकि जब भविष्य की पर्याय होगी, तब वर्तमान की पर्याय नष्ट हो चुकी होगी। जब वर्तमान पर्याय जायगी, तब नई आयगी।

दृष्टांत—पानी का त्रैकालिक स्वभाव ठण्डा है। वर्तमान अवस्था उष्ण है, वह उष्णता एक समय मात्र के लिये है। यदि उष्णता मात्र वर्तमान के लिये न होती तो वह टिक ही नहीं सकती। एक समय को बदलकर दूसरे समय में पानी भले गरम हो तो भी दूसरे समय की उष्णता नई है। पहले समय की उष्णता को बदल कर दूसरे समय में जो उष्णता है, वह नई है। अर्थात् वह पहले समय की नहीं है।

दृष्टांत का सिद्धांत—पानी के दृष्टांतानुसार आत्मा भी त्रैकालिक शुद्ध है, उसमें सांसारिक मलिनता एक समय मात्र के लिये ही है (बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में चार घातिया कर्मों का सर्वथा नाश होने पर केवलज्ञान प्रगट हुआ) वस्तु में संसार नहीं है, किन्तु मात्र एक समय की अवस्था में है। वस्तु कभी भी अशुद्ध नहीं होती। वस्तु में न तो निमित्त है, न आवरण है और न किसी की अपेक्षा है। वस्तु तो त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष है। भंगभेद का सारा जाल पर्याय में है। विकार मात्र एक समय के लिये ही है, समय-समय करके (स्वयं विकार करके) लंबा कर डाला है, वैसे संसार तो एक समय का ही है, उसे बदलते देर नहीं लगती (चौदहवें गुणस्थान का अंतिम समय संसार दशा ही है और उस समय का नाश होने पर उसके बाद के समय में संसार नहीं रहता)। वस्तु त्रिकाल में पूर्ण निरावरण है, उसमें काल का भेद नहीं है। जैसे दीपक तो दीपक ही है, जलती हुई ज्योति ही है, उसमें जो पर्दा है वह मात्र वर्तमान के लिये है। यदि सारे दीपक के लिये पर्दा हो तो वह दीपक ही न रहे-दीपक का अभाव ही हो जाय किन्तु पर्दा वर्तमान मात्र के लिये है और वह दूर हो सकता है, वह दूर हुआ कि दीपक, दीपक ही है। पर्दे के समय भी दीपक ही था और पर्दा दूर होने पर भी दीपक ही है। उसी प्रकार आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध

चैतन्य ज्योति ही है, आवरण केवल अवस्थामात्र के लिये है, वह वस्तु में नहीं है, एक समय मात्र के लिये (अवस्था का) आवरण दूर हुआ कि दीपक पूर्ण प्रगट हो जाता है। द्रव्य तो पूरी अवस्था से ही परिपूर्ण है, उसकी जो अधूरी या अपूर्ण पर्याय कहलाती है, उसमें पर की अपेक्षा होती है। द्रव्य स्वयं वर्तमान में ही पूर्ण अवस्था से भरा हुआ है। जो यहाँ पर है, वही शुद्धदशा में प्रगट होता है। सिद्ध दशा में बहार से कोई कुछ नया नहीं आ जाता।

यदि वस्तु आवृत हो जाय तो वह वस्तु ही नहीं कहलायेगी और यदि मात्र एक समय की अवस्था के लिये आवरण कहा जाय तो वह अवस्था तो दूसरे समय बदल ही जाती है। अवस्था के बदलने पर उस समय का आवरण भी दूर हो जाता है। नई अवस्था में यदि नया आवरण हो तो बन सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि आवरण वस्तु में नहीं है। टोकनी ने दीपक को नहीं ढका किन्तु दीपक की अवस्था को ढका है। यदि दीपक ही ढक जाय तो दीपक का अभाव कहलायगा। इसी प्रकार यदि आत्मा ही ढंक जाय तो तत्त्व का ही अभाव हो जाय। अवस्था तो एक समय मात्र की ही है। पर्याय समय-समय पर बदलती रहती है और वस्तु त्रिकाल में स्थिर बनी रहती है। पर्याय वस्तु नहीं है। (पर्याय का जो आवरण है, वह वस्तु में नहीं है।)

यदि मलिनता एक समय मात्र के लिये न हो—सदा के लिये हो तो वह बदल कैसे सकती है क्योंकि बदल जाती है, इसलिये मलिनता वर्तमान एक समय मात्र के लिये है और वस्तु त्रिकाल निरावरण है।

जैसे मलिन अवस्था एक समय मात्र के लिये है, उसी प्रकार निर्मल अवस्था (सिद्धदशा में) भी एक समय मात्र के लिये है। सिद्धदशा में भी दो समय की अवस्था एकत्रित नहीं होती। निर्मल अथवा मलिन अवस्था में पर की अपेक्षा होती है और द्रव्य तो त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष है। वस्तु स्वभाव में निर्मल या मलिन पर्याय (मोक्ष या संसार) ऐसा भेद लागू नहीं होता। वस्तु त्रिकाल निरपेक्ष है और पर्याय अभूतार्थ है, क्षणिक है। त्रिकाल आवरण से रहित संपूर्ण द्रव्य, सो वस्तु है। अहा! वस्तु तो वस्तु ही है। वस्तु में तीन काल में कोई अपेक्षा लागू पड़ ही नहीं सकती, अपेक्षा तो पर्याय में होती है। निरपेक्ष वस्तु को ही "कारणपरमात्मा" कहा है। इस वस्तु के ऊपर लक्ष्य देने पर पूर्ण परमात्मा पद प्रगट होता है, इसलिये यहाँ पर "कारणपरमात्मा" परिपूर्ण वस्तु का वर्णन किया है।

भगवान अरहंतदेव कार्यपरमात्मा हैं, उनके पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई है।

गुण अर्थात् वस्तु त्रिकाल एकरूप, निर्मल है, उसमें निमित्त, संयोग या आवरण नहीं हो सकता।

प्रश्न—जबकि वस्तु को त्रिकाल निरावरण कहा है तो वर्तमान अवस्था में भी बंधन का निषेध किया है या नहीं?

उत्तर—यहाँ पर्याय का लक्ष्य ही नहीं है किन्तु वस्तु का ही लक्ष्य है। वस्तु का लक्ष्य अवस्था के द्वारा होता है। जिस अवस्था से लक्ष्य हुआ, उस अवस्था का लक्ष्य नहीं है। दृष्टि निरपेक्ष वस्तु के ऊपर है, उसमें पर्याय का लक्ष्य नहीं है।

वस्तु तो त्रिकाल है, जहाँ अवस्था का परिणमन अंदर को हुआ अर्थात् ''मैं शुद्ध द्रव्य हूँ'' इस प्रकार पर्याय के द्वारा द्रव्य का स्वरूप निश्चित किया, वहाँ पर्याय पर दृष्टि ही नहीं रही, अपेक्षा ही नहीं रही। यहाँ पर मात्र ध्रुव स्वभाव लिया गया है। जिस अवस्था से भीतर की ओर हुआ, वह अवस्था तो ध्रुव स्वरूप में मिल गई, उसमें निर्मलता या मलिनता की अपेक्षा ही नहीं रही।

अरिहंत या सिद्ध पद प्रगट हुआ, सो तो पर्याय है। जिस वस्तु से अवस्था (पर्याय) प्रगट हुई, वह वस्तु तो त्रिकाल एकरूप है। वस्तु स्वयं दु:खरूप या अपूर्ण नहीं हो सकती, वस्तु तो आनंदमय परिपूर्ण है। बंध-मोक्ष का भेद भी वस्तु में नहीं होता।

सोना सोने के रूप में एकरूप ही है। कड़ा, कुंडल, अंगूठी इत्यादि अवस्थाओं में सोना सोना ही है, अन्य नहीं किन्तु यदि आकार की अवस्था दृष्टि से देखा जाय तो वह अनेक रूप से भासित होता है; इसी प्रकार आत्मा वस्तुदृष्टि से तो नित्य एकरूप ही है, केवल पर्यायदृष्टि से भेद मालूम होता है, वह वस्तु में नहीं है।

इसे समझ लेने पर पूर्ण स्वरूप की रुचि होती है और पर की महिमा दूर हो जाती है, इसका नाम धर्म है।

नोट - वस्तु के त्रिकाल कहने पर उसमें काल की लंबाई नहीं बताई गई है किन्तु यह बताया है कि भाव से एकरूप निरावरण है।

❖ ❖ ❖

जैन शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति

प्रश्न—जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा गया है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनमार्ग में किसी जगह निश्चयनय की मुख्यता को लेकर कथन है, उसे यह जानना चाहिये कि 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' तथा किसी जगह व्यवहारनय की मुख्यता को लेकर कथन है, उसे यों जानना चाहिए कि 'इस प्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार है।' और इस प्रकार जानना ही दोनों नयों का ग्रहण है; किन्तु दोनों नयों के कथन को समान सत्यार्थ जानकर 'यह इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है' यो भ्रमरूप प्रवृत्ति करने से दोनों नयों को ग्रहण करना नहीं कहा गया है। (मोक्षमार्गप्रकाशक)

पाप को दूर करने का

सच्चा उपाय क्या है ?

श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

प्रकरण पहला

कर्मचंद—आपने एक बार कहा था कि पुण्य से धर्म होता है, इस लौकिक मान्यता में ही पुण्य से धर्म नहीं होता, यह अव्यक्त रीति से आ जाता है—सो कैसे ?

धर्मचंद—पुण्य से धर्म होता है, इस मान्यता में ऐसी मान्यता आई या नहीं कि पाप छोड़ने लायक है ? ('मान्यता') शब्द का प्रयोग इसलिए किये गया है कि 'मान्यता' के होते ही चारित्र एकदम प्रगट नहीं हो जाता है, किन्तु उसी समय अंशतः प्रगट होता है और वह क्रम-क्रम से पूरा होता है ?

कर्मचंद—पाप छोड़ना ही चाहिए—ऐसी मान्यता तो आ ही गई है।

धर्मचंद—तब तो यह भी कहो कि महापाप को तो तत्काल ही दूर करना चाहिए अथवा उस महापाप को बना रहने देना है ?

कर्मचंद—महापाप को सर्व प्रथम दूर कर देना चाहिए।

धर्मचंद—तब बताइये कि महा-पाप क्या है ?

कर्मचंद—मिथ्यादर्शन महापाप है।

धर्मचंद—जिस मिथ्यादर्शन को आप महापाप कहते हैं, उसके दूसरे नाम बतायेंगे ?

कर्मचंद—हाँ, उसे स्वरूप की असमझ, अज्ञान, अविद्या और चिदाभास भी कहा जाता है।

धर्मचंद—तब तो यह कहना चाहिए कि जिसकी ऐसी मान्यता है कि पाप को तो दूर करना ही चाहिए। उसे मिथ्यादर्शनरूपी महापाप को दूर करना ही होगा। क्या यह बात ठीक है कि यदि जीव सम्यग्दर्शन को प्रगट करे तो तो ही उसे दूर कर सकता है ?

जैन कौन है

(१) राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके स्वरूप को प्राप्त करनेवाला जैन है। (२) जैन अर्थात् वीतरागता की मूर्ति। (३) अपने गुण के बल से जो अवगुण को जीते (नाश करे) वह जैन है। (४) जैन अर्थात् मोक्ष का अभिलाषी। (५) जैन अर्थात् वीतरागता का सेवक।

कर्मचंद—हाँ, यही बात है।

धर्मचंद—तब तो इसका मतलब यह हुआ कि सम्यग्दर्शन से मिथ्यादर्शनरूपी महापाप दूर होता है। चाहे सम्यग्दर्शन कहो या धर्म का प्रारम्भ कहो। चाहे सच्ची समझ कहो या सच्चा (सम्यक्) ज्ञान कहो, वह सब एक ही और एक साथ ही रहनेवाले हैं; इसलिए यह निश्चित हुआ कि शुद्धभाव प्रारंभ होते ही महापाप दूर हो सकता है। क्यों यह ठीक है न?

कर्मचंद—हाँ, यह बिल्कुल ठीक है। वास्तव में पुण्यभाव से धर्म नहीं होता, फिर भी लोग मानते हैं कि पुण्य से धर्म होता है, इसका क्या कारण है?

धर्मचंद—सामान्यतः लोग इस संबंध में विचार नहीं करते। बालपन से ही यह सुना होता है कि पुण्य से धर्म होता है, अपने बड़ों के मुँह से भी यही सुनता आया है और धर्मस्थान में भी प्रायः ऐसा ही सुनाया जाता है। यह मान्यता अनादिकाल से चली आ रही है और ज्यों-ज्यों वह उम्र में बढ़ता चला जाता है, त्यों-त्यों उसे पुष्टि मिलती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि यदि कोई यह कहे कि पुण्य से धर्म नहीं होता-महापाप दूर नहीं होता तो उसे बिजली का सा करंट लग जाता है। उसे यह बात सुनने से घोर अरुचि होती है किन्तु यदि तटस्थ होकर शांतिपूर्वक उसके सभी पहलुओं पर विचार करे तो इस बात को तुरंत समझ ले।

कर्मचंद—तब तो इसके अन्य पहलुओं पर हम फिर चर्चा करेंगे।

धर्मचंद—बहुत अच्छा।

(दोनों अपने-अपने घर जाते हैं।)

प्रकरण दूसरा

कर्मचंद—आप यह कहते थे कि पुण्य के और भी पहलू होते हैं, कृपया उन्हें आज बताइये।

धर्मचंद—देखो, जिस समय पुण्य का इच्छुक पुण्य करना चाहता है, उसी समय वह पाप बंध की भी इच्छा करता है?

कर्मचंद—जो पुण्य करना चाहता है, उसे यदि उसी समय पाप भी लगता हो तो वह पुण्य का इच्छुक कैसे कहा जा सकता है, कदापि नहीं कहला सकता।

धर्मचंद—जब कि आपने यह स्वीकार किया है, तब मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि यह तो आप जानते हैं कि शुभभाव (पुण्यभाव) करते समय जिसे आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं

होता, उसके सच्चा ज्ञान, सच्ची प्रतीति, सच्चा चारित्र एवं वीर्य नष्ट होता है और इसलिए उसके आवरण बँधते हैं और वे सब पाप है?

कर्मचंद—आप कहते हैं इससे मुझे यह स्मरण हो आता है कि शुभभाव के होने पर चारों घातियाकर्मों की प्रकृतियों का बंध होता है, यह ज्ञानियों ने कहा है, इसलिए आपका यह कथन सत्य है।

धर्मचंद—तब फिर कहिये कि पुण्यभाव के करने पर आत्मस्वरूप के अजानकार के आत्मा के निजगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य इत्यादि को हनन करनेवाले पापकर्म में से कौन सा दूर हो जाता है और कौन सा नहीं बंधता?

कर्मचंद—एक भी नहीं।

धर्मचंद—तब फिर बताइये कि कौन से शुभभावों को करते-करते इस भव में अथवा इस भव में नहीं तो बाद के भव में सम्यक्त्व का गुण प्रगट होता है।

कर्मचंद—ऐसा एक भी शुभभाव नहीं है जिसको करते-करते अनंत काल व्यतीत हो जाय तो भी सम्यक्त्व गुण प्रगट हो अथवा मिथ्यात्व का महापाप दूर हो जाय।

धर्मचंद—तब तो यह कहना चाहिये कि जो आत्मस्वरूप के अज्ञानी हैं, उनके पुण्य (शुभ) भाव करते समय उसी वक्त संसार के बंधन को बढ़ानेवाला अनंत पाप बंध जाता है, तब क्या वे पुण्य के सच्चे हिमायती कहलायेंगे?

कर्मचंद—कदापि नहीं कहला सकते। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होता है कि पाप का नाश कौन कर सकता है?

अजैन कौन है?

(१) जिसके गुण अवगुण से विजित हो जायं (ढक जायं) वह अजैन है। (२) जो राग-द्वेष को अपना मानने लायक गिनता है और शरीरादि जड़ का अपने को कर्ता मानता है, वह अजैन है। (३) अजैन अर्थात् जगत (विकार) का सेवक। (४) अजैन अर्थात् संसार में चक्कर लगाने का इच्छुक।

धर्मचंद—जब सम्यग्दर्शन होता है, तब उसी समय मिथ्यात्व और अनंत संसार को बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ यह पाँच महापाप तो बँधते ही नहीं हैं और दूसरे पाप भी क्रमशः उसके नहीं बँधते हुये अंत में वह पापबंध से मुक्त हो जाता है।

कर्मचंद—आपने बहुत स्पष्ट बात कही है किन्तु क्या इस विषय पर प्रकारांतर से भी विचार किया जा सकता है?

धर्मचंद—हाँ, अनेक प्रकार से इस पर विचार हो सकता है और उस सबका परिणाम एक ही आता है क्योंकि सत्य तो सत्य ही रहता हैं। अब हम इस विषय पर किसी और समय विचार करेंगे।

(दोनों मित्र अलग होते हैं।)

प्रकरण तीसरा

कर्मचंद—कहिये प्रकारांतर से उस बात पर कैसे विचार किया जा सकता है?

धर्मचंद—क्या आप यह जानते हैं कि जिसके आत्मस्वरूप का लक्ष्य नहीं है, उसके कषायचक्र चलता ही रहता है और इसलिये शुभ के पश्चात् तत्काल अशुभ आता है।

कर्मचंद—कृपया इस बात को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।

धर्मचंद—देखो, पहले हम इस बात पर विचार कर लें कि शुभ (पुण्य) भाव क्या है और पापभाव क्या है?

कर्मचंद—बहुत अच्छा!

धर्मचंद—देखिये, मैं पहले आप को बतला चुका हूँ कि जिसे आत्म-स्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है, वह पुण्यभाव करनेवाला जीव उस भाव को करते समय ही पापबंध करता है। किन्तु यह तो उस से आगे की बात है, इसलिए उसे ध्यानपूर्वक सुनिये।

कर्मचंद—मैं इसे ध्यानपूर्वक सुनकर इसकी तुलना करूँगा।

धर्मचंद—देखो, एक आदमी को आपने दान दिया, उसके बाद आप संसार के व्यापार-धन्धे में लग जाते हैं न?

कर्मचंद—हाँ।

धर्मचंद—तब फिर बताइये कि आपका धंधा-व्यापार का भाव शुभ है या अशुभ?

कर्मचंद—उसे शुभ कैसे कहा जा सकता है, वह तो अशुभभाव ही कहलायगा।

धर्मचंद—तब फिर यह स्पष्ट हुआ कि शुभभाव के दूर होने पर अशुभभाव तत्काल ही आता है, इसलिये पुण्य सतत तो चलता नहीं रहा और पुण्य के सच्चे हिमायती को तो चौबीसों घंटे पुण्य करना चाहिये।

कर्मचंद—किन्तु यह तो कहाँ से हो सकता है?

धर्मचंद—अज्ञानी से यह भले न बन सके किन्तु ज्ञानी के कुछ ऐसे पद हैं, जिसमें यह संभव है।

कर्मचंद—मुझे भी विचार करने पर ऐसा लगता है कि शुभभाव निरंतर चालू नहीं रहता।

शुभभाव पूरा हुआ नहीं कि तुरन्त ही कुछ अशुभ आ जाता है। ऐसा भी होता है कि शुभ करने का तो विचार किया जा रहा हो और उधर एकदम अशुभभाव झाँकने लगता है।

धर्मचंद—शुभभाव, अशुभभाव की तरह क्षणिक है, उत्पन्नध्वंसी है, विकारी है। वे दोनों मोहराजा की फौज के सरदार हैं। शुभभाव मोहराजा की कढ़ी है जो (ऊपरी दृष्टि से) मीठी-मधुर लगती है, इसलिए पुण्य के हिमायती को पहले उसका यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिये।

प्रकरण चौथा

कर्मचंद—पुण्य के स्वरूप को तो छोटा बालक भी समझता है। भला, उसमें समझना भी क्या है?

धर्मचंद—तब फिर छोटा बालक कैसे समझता है यह बताइये।

कर्मचंद—किसी जीव का प्राण घात करना, सो पाप है; असत्य बोलना, सो पाप है; चोरी करना पाप है, अब्रह्मचर्य पाप है, परिग्रही होना पाप है और किसी जीव को दुःखी देखकर दान देना, सेवा करना, उसे बचाना तथा अन्न-पानी देना, सो पुण्य है।

धर्मचंद—ठीक है। आपका यह अभिप्राय ठीक है या नहीं, इस पर विचार करना होगा, किन्तु यह विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि यह मान्यता बालक की ही है या बड़ों की भी।

कर्मचंद—बड़ों की भी यही मान्यता है किन्तु उसमें अंतर इतना है कि बड़े आदमी जोर शोर से इस मान्यता की घोषणा करते हैं—उसका अनुसरण करने के लिये प्रजा को प्रेरित करते हैं और उनके प्रभाव से अथवा उपदेश से लोग दान देते हैं, यह भी देखा जाता है।

सुख क्या है?

आत्मा का स्वास्थ्य ही सुख है। स्वास्थ्य अर्थात् आत्मा का लक्ष्य पर में न जाना और अपने में स्थिर रहना, सो सुख है। सुख का लक्षण निराकुलता है। अपने सुखस्वरूप की प्रतीति होना ही सुख है। सुखस्वरूप की प्रतीति के बिना किसी भी समय, किसी भी क्षेत्र में, किसी को भी सुख नहीं हो सकता।

धर्मचंद—तब यह बताइये कि एक आदमी को मारने के लिये किसी ने बंदूक मारी किन्तु जिस आदमी को मारना था, वह बच गया—ऐसी स्थिति में बंदूक छोड़नेवाले को पाप लगा या नहीं?

कर्मचंद—हाँ, पाप तो है ही।

धर्मचंद—क्यों? जबकि आदमी मरा नहीं तो पाप क्यों लगेगा?

कर्मचंद—मार डालने का भाव था इसलिये।

धर्मचंद—आपके इस उत्तर से तो यह निश्चय हुआ कि जीव को मार डालने का भाव किया था, इसलिये पाप हुआ। वह जीव जिया या मरा, इससे कुछ मतलब नहीं है? जीव मरे या न मरे, इससे पाप की उत्पत्ति का कोई संबंध नहीं है। पाप तो जीव में होता है, इसलिये जीव का तीव्र कषायभाव ही पाप है। हिंसा अपने भाव से मालूम होती है, यह निश्चय हुआ।

कर्मचंद—किन्तु आपने तो जीव बचा, इसका उदाहरण दिया, जीव मरे ऐसा भी तो कोई उदाहरण दीजिये।

धर्मचंद—अच्छी बात है, इसे ही लीजिये। एक आदमी दु:खी है, उसे भूख लगी है, उसकी भूख को मिटाने के लिये आपने बिल्कुल हल्का, सुपाच्य और सादा भोजन दिया, किन्तु वह उसे नहीं पचा-उल्टा ही हुआ, वह बेचारा उस भोजन के कारण मर गया, तब बताओ कि आपको पुण्य लगा या पाप?

कर्मचंद—यह तो पुण्य ही है। भला, इसे पाप कैसे कहा जा सकता है। भोजन देने वाले का भाव तो उसकी सहायता करने का था, इसलिये यह पुण्य कहलायगा।

धर्मचंद—तो फिर इतना बड़ा आदमी मर गया, वह किसके खाते में जायगा?

कर्मचंद—गहरा विचार करने पर तो यही मालूम होता है कि प्राणी के जीने और मरने के साथ पुण्य-पाप का कोई संबंध नहीं है, मात्र अपने भाव के साथ संबंध है और वही नियम सत्य-असत्य इत्यादि के साथ भी लागू होता है।

धर्मचंद—यह ठीक है, किन्तु आपने कहा था कि बालक भी पुण्य स्वरूप को समझता है—क्या यह ठीक है।

दु:ख क्या है?

अपना सुख अपने में ही है, उसे भूलकर परवस्तु में अपनी सुखबुद्धि को मान लेना, सो दु:ख है। आत्मा को अपने सुख के लिये परवस्तु की इच्छा करना, सो दु:ख है।

आत्मा अपने दु:ख रहित सुखस्वरूप को नहीं जानता और अपने सुख को पर से (पराधीन) मानता है, यही मान्यता दु:ख का कारण है।

कर्मचंद—वह मान्यता यथार्थ नहीं है। जीव यदि शुभभाव करता है तो वह (भले ही किसी प्राणी को लाभ या हानि कुछ भी हो) पुण्य और अशुभभाव करता है तो (भले ही किसी प्राणी को लाभ या नुकसान चाहे जो हों) पाप कहलाता हैं।

धर्मचंद—आपका कहना ठीक है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि शुभभाव करते हुये पाप का भी बंध हो सकता है, क्या आपको इसमें विचित्रता नहीं मालूम होती?

कर्मचंद—हाँ, कुछ मालूम तो होती है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है, इस संबंध में हम कभी फिर चर्चा करेंगे।

धर्मचंद—बहुत अच्छा।

प्रकरण पांचवां

कर्मचंद—शुभभाव करते हुये पाप का बंध भी क्यों कर होता है?

धर्मचंद—इस संबंध में विचार करते हुये हम दो प्रकार के जीवों को लेंगे। (१) आत्मस्वरूप से अजान (२) आत्मस्वरूप के ज्ञाता-साधक जीव।

इनमें से पहले—आत्मस्वरूप से अजान को प्रथम जानना लाभदायक है।

कर्मचंद—ठीक है। आत्मस्वरूप से अजान को पहले लेना उचित है।

धर्मचंद—देखिये, वह तो यों मानता है कि (१) मैं पर जीव को मार सकता हूँ। (२) पर जीव को जिला (बचा) सकता हूँ। (३) पर जीव को दु:ख दे सकता हूँ। (४) पर जीव को सुख दे सकता हूँ।

कर्मचंद—हाँ, वह यह मानता है कि मैं दूसरे को मार सकता हूँ, दूसरे को दु:ख दे सकता हूँ और ऐसे कृत्य को लोग पाप कहते हैं और मैं दूसरे को जिला सकता हूँ और को सुख दे सकता हूँ, वह यों भी मानता है और ऐसे कृत्य को लोग पुण्य कहते हैं।

जैन शासन

(१) जैन शासन अर्थात् वीतरागता (२) अनेकांत जैनशासन का आत्मा है। (३) स्याद्वाद जैनशासन की कथन शैली है। (४) जैनशासन अर्थात् युक्ति और अनुभव का भंडार। (५) जैनशासन अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप को संपूर्ण और त्रिकाल स्वाधीन (स्वतंत्र) बतानेवाला अनादि अनंत धर्म।

धर्मचंद—ऐसा मान्यता बालक की है या बड़े की?

कर्मचंद—छोटे-बड़े लगभग बहुतों की है।

धर्मचंद—हम एक महासभा को बुलायें और फिर उसमें उपर्युक्त पुण्य-पाप की व्याख्या का प्रस्ताव रखें तो बताइये कि वह प्रस्ताव पास होगा या नहीं?

कर्मचंद—अवश्य पास होगा।

धर्मचंद—उससे विपरीत यदि कोई महासभा में कहे कि देखो भाई, आप जिस प्रस्ताव को पास करना चाहते हैं, वह भूलों से भरा हुआ है। कोई किसी को न तो जिला सकता है और न सुख-दु:ख दे सकता है तो उसके कथन का क्या मूल्य होगा?

कर्मचंद—अरे, मुखिया लोग कुहराम मचा देंगे और कहेंगे कि ऐसा कहने से तो समाज की बहुत बड़ी हानि होगी। भगवान महावीर स्वामी ने जो कहा है, उससे इसका लोप होता है, इत्यादि कहकर लंबे छटादार भाषण करने लगेंगे और कहेंगे कि धर्म का नाश होने जा रहा है।

धर्मचंद—देखो भाई, मैं पहले कह चुका हूँ कि इस मान्यता में बहुत बड़ी भूल है। हम इस विषय पर और अधिक विचार करें। जिज्ञासु बुद्धि से—खुले दिल से चर्चा करने से सत्य-असत्य की स्पष्टता हो जाती है, इसलिये मैं आपसे पूछता हूँ कि निम्नलिखित दृष्टांतों के अनुसार ऐसा बनता है या नहीं?—

(१) एक डाक्टर किसी बीमार को अच्छा करने के लिये यथाशक्य प्रयत्न और सावधानी पूर्वक उसका दु:ख दूर करने के हेतु से आपरेशन करता है किन्तु बीमार टेबल पर ही मर जाता है?

(२) एक आदमी दूसरे आदमी को मार डालने के हेतु से विष देता है और दूसरा आदमी विष खा भी लेता है, किन्तु उसके परिणाम स्वरूप वह मरता नहीं है, प्रत्युत उसे जो दीर्घकाल से कोई बीमारी थी, वह उससे दूर हो जाती है—ऐसा होता है?

(३) एक आदमी दूसरे आदमी को सुखी होने के हेतु से एक वस्तु देता है किन्तु वह उसे नहीं रुचती और उसे लेकर उसको सुख की जगह दु:ख होता है?

(४) एक पिता अपने पुत्र को उसकी भलाई के लिये शिक्षा देता है कि भाई, असत्य बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना इत्यादि ठीक नहीं है, फिर भी वह पुत्र नहीं मानता—ऐसा होता है या नहीं? और ऐसा भी होता है कि उसे सुखी होने के लिये दी गई शिक्षा अरुचिकर होती है?

(५) गजसुकुमार के शिर पर उसके ससुर ने प्रज्वलित अग्नि उसे दु:ख देने के लिये रख दी थी किन्तु उसे कोई दु:ख नहीं हुआ, प्रत्युत सुख ही हुआ, वह मोक्ष गया और उसने अविनाशी कल्याण को प्राप्त किया यह सच है न?

(६) शिक्षक स्कूल में विद्यार्थी की हित कामना से कि वह पढ़ें सुधरे और भविष्य में सुखी हो, उसे उसका पाठ बराबर तैयार करने के लिये कहता है और वह विद्यार्थी वैसा नहीं करता किन्तु शिक्षक को ही खराब कहता है, ऐसा भी होता है या नहीं?

(७) इस जगत में अनंत भगवान (ज्ञानी) हो गये हैं, उनने जगत के कल्याण के लिये उपदेश दिया किन्तु उसे सुननेवाले सभी ज्ञानी नहीं हुए। जगत के बहुभाग ने सुधार से इनकार किया और कितने ही लोगों ने उनकी धर्मसभा से बाहर आकर बहुत बड़ा विरोध किया, ऐसा भी होता है या नहीं?

१–जो अपने से कभी नहीं हो सकता उसका अपने को कर्ता मानता है और जो अपने को करना है और जो अपने से हो सकता है। वह अनादि काल से कर नहीं रहा है।

(८) यह जीव स्वयं अनंत बार तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा में गया, भगवान का कल्याणकारी उपदेश उसके कानों में पड़ा किन्तु इसने अपनी महा विपरीतता के कारण उस उपदेश को स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार केवली के पास जा कर भी कोरा रह गया, इस प्रकार की घटना भी आपने सुनी है या नहीं?

२–जो सुख अपने में भरा हुआ है उसे न तो जानता है और न भोगता है और परवस्तु कि जिसमें कभी भी अपना सुख नहीं है उसमें से सुखभोग करने का अनादिकाल से व्यर्थ ही परिश्रम करता रहता है।

(९) एक आदमी किसी आदमी को मारने के लिये गया किन्तु जिसे मारना था वह नहीं मरा और कोई दूसरा आदमी ही एकदम बीच में आ गया और मर गया, ऐसा भी होता है या नहीं?

(१०) अभी कुछ समय पहले बंगाल में भयंकर अकाल पड़ चुका, इसलिये उस समय अनेक करुणाबुद्धि जीव यह चाहते थे कि जितने अधिक से अधिक लोगों की अनाज की पूर्ति की जाय वह करे, किन्तु वे अपनी धारणा के अनुसार उसकी पूर्ति नहीं कर पाये—ऐसा भी हो चुका या नहीं?

कर्मचंद—मैंने इन सब दृष्टांतों पर काफी विचार किया है, वे सब ठीक हैं। उन पर से निम्नलिखित सिद्धांत निकलते हैं:—

(१) जीव स्वयं शुद्ध, शुभ अथवा अशुभ भाव कर सकता है। उपर्युक्त दृष्टांतों का विभाग इस प्रकार हो सकता है।

शुद्ध	शुभ	अशुभ
	१–३–४	२–५–९
७–८	६–१०	

(२) परवस्तु का परिणमन (अवस्था) इस जीव के आधीन नहीं है।

(३) जो जीवित रहे, उनका शरीर और जीव उस समय पृथक् होने लायक नहीं थे।

(४) जो मर गये, उनका शरीर और जीव उस समय पृथक् होने लायक था।

(५) पर के ऊपर किसी का अधिकार नहीं चलता, इसलिये पिता पुत्र को, शिक्षक विद्यार्थी को अथवा तीर्थंकर केवली किसी अन्य के लिये कुछ नहीं कर सकते किन्तु स्वयं अपने भीतर अपने भाव का स्वयं पुरुषार्थ कर सकता है।

धर्मचंद—तब कहो कि कोई दूसरा किसी पर का कुछ भला-बुरा कर सकता है, यह मान्यता ठीक है ?

कर्मचंद—किंचित् मात्र भी नहीं; दुनिया में चलनेवाली यह मान्यता गलता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। अंग्रेजी में भी एक कहावत है कि man proposes, god disposes मनुष्य भावना करता है, कुदरत के कायदे के मुताबिक जो होना हो सो होता है। (यहाँ पर god अर्थ का 'पदार्थों के नियम') समझना चाहिये।

धर्मचंद—उस विपरीत मान्यता को मिथ्यादर्शन कहा जाता है, तब कहिये वह पाप है या नहीं ?

कर्मचंद—अवश्य वह पाप है।

धर्मचंद—तब बताइये कि लोक व्यवहार में जो पुण्य की मान्यता है, उस मान्यता को लेकर होनेवाले शुभभाव में विपरीत मान्यता का पाप साथ में आया या नहीं ?

कर्मचंद—अवश्य आया और वह पुण्य के सच्चे हिमायती को टालना ही चाहिये। ★

❖ ❖ ❖

❖ क्रमबद्धपर्याय ❖

जगत में छह द्रव्य हैं। उन सब में अपने-अपने अनंत गुण नित्य हैं। प्रति समय उन गुणों की अवस्था बदलती रहती है। जो-जो अवस्था होती है, वह प्रत्येक क्रमबद्ध ही आती है। बाद में होनेवाली अवस्था पहले नहीं हो जाती अथवा पहले होनेवाली अवस्था बाद में हो जाय—इस प्रकार का परिवर्तन भी क्रमबद्ध अवस्था में नहीं होता।

दृष्टांत :—मिट्टी का घड़ा बनता है, उसमें क्रमबद्ध अवस्थायें ही आती हैं। पहले मिट्टी को पिंडरूप बनाने के लिये खूब कूटा पीटा जाता है, उसके बाद उसे चाक पर चढ़ा कर घड़े के आकार में बनाते हैं। कभी ऐसा नहीं होता कि पहले कुम्हार मिट्टी को चाक पर चढ़ावे और उसके बाद उसे कूटे-पीटे; इसी प्रकार आत्मा में भी प्रत्येक अवस्था क्रमबद्ध ही होती है। उसका क्रम भंग करने के लिये कोई समर्थ नहीं हैं। उसकी केवल और मोक्ष पर्यायें भी क्रमबद्ध ही प्रगट होती हैं, उसमें समय मात्र का अंतर डालने के लिये कोई समर्थ नहीं है।

अब यहाँ एक सहज प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वस्तु की समस्त पर्यायें क्रमबद्ध ही

आती हैं और आत्मा के लिये केवल तथा मोक्ष भी क्रमबद्ध ही आता है, उसमें कोई अंतर पड़ ही नहीं सकता तो फिर उस में पुरुषार्थ कहाँ रहा? उसका उत्तर इस प्रकार है :—

वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था में तो कोई अंतर पड़ेगा ही नहीं, किन्तु ''वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है'' ऐसी श्रद्धा करने में ही अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय के विकास के लिये किसी पर के ऊपर लक्ष्य नहीं रहेगा, इसलिये किसी पर के ऊपर राग-द्वेष का कारण भी नहीं रहेगा और इस प्रकार की आकुलता का भी कोई विकल्प नहीं रहेगा कि ''मेरी शुद्ध पर्याय कब खुलेगी'' इसलिये क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का निश्चय तो वही कर सकता है जो निकट मुक्तिगामी है। इसलिये क्रमबद्धपर्याय का निश्चय करने में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्धपर्याय में वीतरागता है।

क्रमबद्धपर्याय का निश्चय होने पर, परद्रव्य की चाहे जैसी अनुकूल अथवा प्रतिकूल अवस्था हो, फिर भी उसमें राग-द्वेष नहीं होता। (अनुकूल प्रतिकूलपन जगत की दृष्टि से है, वस्तु में अनुकूल प्रतिकूलपन नहीं है।)

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा तब हुई कहलाती है कि जब परद्रव्य में होने वाली अवस्था चाहे जैसी हो किन्तु उसमें ''यह ऐसा क्यों हुआ? यदि ऐसा हुआ होता तो ठीक होता'' इत्यादि विचार-विकल्प-राग-द्वेष नहीं हो। उसे (क्रमबद्ध पर्याय का निश्चय करनेवाले को) श्रद्धा है कि इस द्रव्य की इस समय इस प्रकार अवस्था क्रमबद्ध होना थी, उसी प्रकार हो रही है तो फिर वह राग या द्वेष क्यों करेगा? वह तो मात्र जिस वस्तु की जिस समय जिस प्रकार अवस्था होती है, उसका ज्ञान ही करता है।

इस प्रकार क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय स्वयं वीतरागता है और उस निर्णय के करने में ही अनंत पुरुषार्थ है। ❖

❖ ❖ ❖

❖ पराधीनता ही दुःख हैं ❖

आत्मा ज्ञान शांति आदि अनंत गुणों का पिंड है। आत्मा में जो राग-द्वेष आदि भाव होते हैं, वह आत्मा का त्रैकालिक स्थाई स्वभाव नहीं है किन्तु क्षणिक विकारी भाव है। आत्मा के स्वभाव को भूलकर पर को आत्मरूप मानना, सो गुण को भूल जाना है और गुण को भूल जाना, सो स्वतंत्रता को खो देना है। स्वतंत्रता को खो दिया, इसलिये दुःख भोगना ही होगा। जबकि

अपने गुण नहीं जाने जायेंगे, तब कहीं न कहीं अपने को मानेगा तो अवश्य। इस प्रकार मैं शरीर, राग-द्वेष विकाररूप हूँ, यों पर में अपना अस्तित्व स्वीकार करके उसने यह मान लिया कि मैं अन्य पर अवलंबित हूँ, मुझमें स्वयं सार नहीं है, यदि मैं शरीरादि-रागादि को छोड़ दूँगा तो मैं नहीं रहूँगा। यदि मुझ में से विकार निकाल गये तो मुझमें कुछ नहीं रहेगा, इस प्रकार अपने को नि:सत्व माननेवाला अपनी आत्मा का अनादर करता है और अपने गुणों की हत्या करता है।

अपने गुणों की हत्या करनेवाला कभी भी परमुखापेक्षी नहीं मिट सकता और कभी भी उसके पराधीनता का दु:ख दूर नहीं हो सकता। आत्मा ज्ञान, दर्शन, स्वतंत्र सुख, आनंद और वीर्य की मूर्ति है। जब तक उसे वह जैसा है, वैसा न माने और पर को अपना मानता रहे, तब तक उसे स्वतंत्र धर्म नहीं मिल सकता और जब स्वतंत्र धर्म नहीं होगा तो परतंत्र विकार होगा और उसे दु:ख बना रहेगा।

आत्मा बिल्कुल पृथक् पर से निराला है। उसे पर के आश्रय को आवश्यकता है, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

❖ व्यवहार से निश्चय नहीं आता ❖

व्यवहारनय का अर्थ है पराश्रय से प्रवर्तित कथन। दर्शन का विषय अभेद है। यदि ज्ञान यह जान ले तो यह कहलायेगा कि ज्ञान ने यथार्थ जान लिया। वह ज्ञान, राग-द्वेष को तो गौण कर ही देता है, साथ ही निर्मल अवस्था को भी गौण कर देता है। गौण कर देता है, इसलिये अवस्था के प्रति कोई भार नहीं रहता। वह ज्ञान केवलज्ञान को भी गौण कर डालता है, मात्र सामान्य दर्शन का विषय है।

श्रद्धा का लक्ष्य विकार पर नहीं है किन्तु निर्मल अवस्था कितनी प्रगट हुई है, इस पर भी नहीं है। निरपेक्ष दृष्टि में पर की अपेक्षा नहीं होती, पर का आलम्बन नहीं होता, व्यवहार से निश्चय नहीं आता, किन्तु व्यवहार का निषेध करने से निश्चय आता है। अधूरी अवस्था अथवा पूरी निर्मल अवस्था सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, साथ में निमित्त होता है किन्तु दृष्टि में निमित्त का आदर नहीं होता। अधूरी अवस्था है, इसलिए ज्ञान निमित्त को जानता तो है किन्तु दर्शन का विषय निरालंब है, दृष्टि उसका ही आदर करती है।

सम्यग्दर्शन भी साधन है; साध्य तो अखंड है। साध्य के बल से साधन बीच में हो जाता है। राग-द्वेष आत्मा से एकत्रित नहीं हैं, इसलिये पृथक् हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिये परमात्मा हो जायेगा। सम्यग्दृष्टि तो लघुनंदन हो ही गया, वह कृतकृत्य हो गया। विकार से

निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है—जहाँ इसकी तो कोई चर्चा ही नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु निर्मल अवस्था के द्वारा विशेष अवस्था प्रगट होती हो, सो भी नहीं होता। व्यवहार का अभाव होने पर निश्चय आता है। व्यवहार करते हुए निश्चय आता है, वह त्रिलोक में कदापि नहीं हो सकता।

❖ प्रश्नोत्तर ❖

प्रश्न—जीवादि तत्त्वों को समझने के लिये इस काल में कौन योग्य है?

उत्तर—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होता है, इसलिये वे योग्य हैं।

प्रश्न—तब फिर सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान क्यों नहीं होता?

उत्तर—जो संज्ञी जीव प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के लिये अपने ज्ञान में पुरुषार्थ करते हैं, उन्हें सच्ची श्रद्धा होती है और जो सैनी जीव प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के लिये अपने ज्ञान में पुरुषार्थ नहीं करते, किन्तु पर ज्ञेयों को जानने के लिये ज्ञान को रोकने में असत्यार्थ पुरुषार्थ करते हैं, उन्हें प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता।

क्षयोपशम ज्ञान जहाँ लगता है, वहाँ एक ज्ञेय में लगता है। यदि वह अपने स्वरूप को जानने की ओर उस ज्ञान को लगाता है तो उसका ज्ञान होता है और यदि परज्ञेय को जानने की ओर स्वयं अपने ज्ञान को लगाता है तो पर ज्ञेय ज्ञान में लगता है। परद्रव्य अनंतानंत हैं, यदि एक एक ज्ञेय में रोकेगा तो वह कभी भी उसे ठीक नहीं जान सकेगा। स्व को यथार्थ रीत्या जाने बिना पर का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इसलिये जो सैनी जीव अपने पुरुषार्थ को अपनी ओर नहीं लाते, उन्हें यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—धर्म के उपदेश में किस की मुख्यता होनी चाहिये?

उत्तर—मिथ्यात्व जो पाप है, उसकी प्रवृत्ति छुड़ाने की मुख्यता होनी चाहिये। कुछेक बातों में हिंसा बता कर उसे छुड़ाने की मुख्यता करना, सो क्रमभंग उपदेश है। जो दया के कुछ अंगों को योग्य रीति से पालन करते हैं, हरितकाय आदि का त्याग करते हैं, अल्प जल का उपयोग करते हैं, उसका निषेध नहीं समझना। यहाँ तो मिथ्यात्व को छुड़ाने की प्रवृत्ति की मुख्यता बताई गई है। यदि उसकी मुख्यता नहीं की जायेगी तो वे जीव दया के कुछ अंगों का पालन करने में अपना सारा जीवन भले ही व्यतीत कर दें किन्तु वे धर्म के प्रारंभिकरूप-

सम्यग्दर्शन को नहीं पायेंगे। इस प्रकार उनका अमूल्य मानव जीवन निष्फल जायगा और उनका संसार चक्र चलता रहेगा।

❖ दृष्टि का विषय ❖

वस्तु त्रैकालिक है। उसके आश्रय से पर्याय निर्मल होती है। पर्याय के आश्रय से पर्याय निर्मल नहीं होती। गुरु के कथन पर जब तक लक्ष्य जाता है, तब तक निमित्त, शास्त्र, गुरु और ज्ञान सब विनाशी हैं, किन्तु जब ध्रुव के प्रति दृष्टि जाती है, तब ज्ञान अविनाशी होता है। अनुभव और सम्यग्दर्शन एक अवस्था है, उसका और आत्मा का त्रैकालिक संबंध नहीं है क्योंकि वह बदल जाता है। दर्शन निमित्त को स्वीकार नहीं करता किन्तु उसके बाद उपचार से निमित्त कहलाता है। इसके बाद ज्ञान निमित्त को जानता है, दर्शन के समय निमित्त नहीं होता वह पीछे से निमित्त कहलाता है। जब तक निमित्त को राग से जाना जाता है, तब तक ज्ञान विनाशी अनित्य है, वह अविनाशी को लाभ नहीं पहुँचाता। वह तो पूर्व का ही क्षयोपशम है। जब स्वयं अपनी ओर उन्मुख होकर निर्णय किया, तब निमित्त कहलाता है। जिस समय अविनाशी ज्ञान होता है, उस समय निमित्त का प्रश्न ही नहीं रहता। जहाँ निर्णय सामान्य की ओर गया कि वहाँ संसार छूट गया। संसार छूटने का कारण द्रव्य स्वयं है। निर्णय होने के बाद निमित्त कहलाता है।

ध्रुव शक्ति साध्य है, मोक्ष साध्य नहीं, मोक्ष प्रगट होता है। प्रगट-अप्रगट पर्यायदृष्टि में होता है। ध्रुव सदा प्रगट है। प्रगट-अप्रगट वस्तु में प्रश्न ही नहीं है। प्रगट-अप्रगट अवस्था में ही वस्तु ध्रुव तो सदा प्रगट ही हैं। साध्य वस्तु-साधन निर्णय (व्यवहार) ध्रुव के लक्ष्य में आते ही सहज निर्मल अवस्था प्रगट होती है, उसमें पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, पुरुषार्थ सहज ही हो जाता है। भला, पर्याय का आश्रय कैसा है ? आश्रय तो स्वभाव का होता है, ध्रुव और मोक्ष दोनों साध्य हो जाय तो दो भंग हो जायेंगे। दर्शन का विषय भंग (दो) नहीं है। सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान प्रकाशित हो तो वह निश्चय से आदरणीय नहीं है। साध्य साधन का भेद निश्चय में है ही नहीं। भेद के बलवान होने पर अभेद के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

❖ धर्म ❖

कोई भी वस्तु और उसका स्वभाव पृथक् होकर नहीं रह सकता, अर्थात् वस्तु का स्वभाव सदा वस्तु में ही रहता है। आत्मा का स्वभाव सदा आत्मा में ही है। स्वभाव ही वस्तु का धर्म है, इसलिये आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप है।

जबकि वस्तु स्वयं धर्म स्वरूप है, तब उसे धर्म के लिये बाहर की सहायता की आवश्यकता कैसे हो सकती है ? आत्मा का धर्म सदा आत्मा में ही है, किसी पर को लेकर आत्मा का धर्म नहीं है। तू चाहे जिस क्षेत्र में जाय या चाहे जिस काल में रहे तो भी तेरा धर्म तुझ से अलग नहीं है। स्वयं धर्म स्वरूप होने पर भी, तुझे अपनी निज की खबर अनादिकाल से नहीं है, इसलिये तुझमें धर्म के होते हुये भी वह तुझे प्रगटरूप से अनुभव में नहीं मालूम होता और इसीलिये तुझे जो अपने धर्म स्वरूप में शंका होती है, वही अधर्म है और इसीलिये संसार है। उस अधर्म को दूर करने के लिये अपने धर्म स्वभाव को पहिचान, यही एक ही उपाय है।

❖ सम्यक्त्व का माहात्म्य ❖

(१) सम्यक्त्वहीन जीव यदि पुण्य युक्त भी हो तो भी ज्ञानी जन उसे पापी कहते हैं। क्योंकि पुण्य-पाप रहित स्वरूप की प्रतीति न होने से पुण्य के फल की मिठास में पुण्य का व्यय करके-स्वरूप की प्रतीति रहित होने से पाप में जायगा।

(२) सम्यक्त्व सहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्व हीन होकर देवलोक का निवास भी शोभास्पद नहीं होता। (परमात्मा प्रकाश)

(३) संसाररूपी अपार समुद्र से रत्नत्रयरूपी जहाज को पार करने के लिये सम्यग्दर्शन चतुर खेवटिया (नाविक) के समान है।

(४) जिस जीव के सम्यग्दर्शन है, वह अनंत सुख पाता है और जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है, वह यदि पुण्य करे तो भी अनंत दुःखों को भोगता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की अनेकविध महिमा है, इसलिये जो अनंत सुख चाहते हैं, उन समस्त जीवों को उसे प्राप्त करने का सर्व प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

श्रीमद् राजचंद्र ने भी आत्मसिद्धि के प्रथम पद में कहा है कि:—

जे स्वरूप समज्या बिना, पाम्यो दुःख अनंत
समजाव्युं ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवंत॥१॥

जिस स्वरूप को समझे बिना अर्थात् आत्म-प्रतीति के बिना यानी सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना अनादिकाल से केवल अनंत दुःख ही भोगा है, उस अनंत दुःख से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन है, दूसरा नहीं।

वह सम्यग्दर्शन आत्मा का ही स्वस्वभावी गुण है।

सुखी होने के लिये सम्यग्दर्शन को प्रगट करो।

❖ त्याग का अर्थ ❖

आत्मा के पर का त्याग नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु राग-द्वेष का त्याग भी नाममात्र (कथनमात्र) के लिये है। राग के त्याग का कर्तृत्व द्रव्यदृष्टि से आत्मा के नहीं है। अपने स्वभाव में स्थिर होने पर, राग-द्वेष सहज में ही टल जाते हैं, वह त्याग कहलाता है, वह भी व्यवहार है।

आत्मा अपने को ग्रहण करता है, यह कहना भी व्यवहारमात्र है। क्योंकि ऐसा कहने में ''स्वयं'' और ''स्वयं को पकड़ता'' है, इस प्रकार का ग्राह्य-ग्राहक भेद हो जाता है। दृष्टि में ज्ञानी के ग्राह्य-ग्राहक का भेद दूर हो ही गया है मात्र पर्याय को समझने के लिये व्यवहार है, ज्ञान की पर्याय भी व्यवहार है।

व्यवहार में बंध है, इसलिये मैं पर्याय में निमित्ताधीन हूँ (पुरुषार्थ में कमजोरी है) यों जानता है किन्तु वस्तु की दृष्टि से अबंध हूँ, ऐसी प्रतीति होने के बाद पर्याय में पर के ऊपर जितना लक्ष्य जाता है, वह अवस्था की अशक्ति है। मान्यता में (दृष्टि में) तो बंध है ही नहीं, पर्याय में जो राग होता है, वह पर को लेकर नहीं है, यह जान लिया अर्थात् ''इस पर वस्तु को लेकर मैं नहीं हूँ अथवा पर के कारण से मेरी पर्याय नहीं है।'' इस प्रकार वह अशक्त पर्याय को छोड़ता जाता है, यही निर्जरा है।

सत्य त्रिकाल एकरूप है, सत्य से इनकार कौन कर सकता है! द्रव्य तो इनकार करता नहीं है किन्तु भीतर जो विपरीत मान्यतारूप महान शल्य है, उसे इनकार करवाता है। भगवान आत्मा सुखशय्या में ही सोता है।

❖ निश्चय व्यवहार का स्वरूप ❖

(१) **निश्चय**-यथार्थ भाव; **व्यवहार**-अयथार्थ भाव

(२) **निश्चय**-स्वाभाविक भाव; **व्यवहार**-निमित्ताधीन भाव

(३) **निश्चय**-सत्यार्थ; **व्यवहार**-असत्यार्थ

(४) **निश्चय**-त्रिकालिक भाव; **व्यवहार**-क्षणिक भाव

(५) **निश्चय**-ध्रुव भाव; **व्यवहार**-उत्पन्नध्वंसी भाव

(६) **निश्चय**-त्रिकाल स्थिर रहनेवाला भाव; **व्यवहार**-क्षणस्थायी भाव

(७) **निश्चय**-स्वलक्षी भाव; **व्यवहार**-परलक्षी भाव

(८) **निश्चय**-वास्तविक स्वरूप; **व्यवहार**-कथनमात्र स्वरूप

(९) **निश्चय**-स्वद्रव्याश्रित; **व्यवहार**-संयोगाश्रित

(१०) **निश्चय**-अन्य के भाव को अन्य का नहीं कहता, किन्तु अपने भाव को ही अपना कहता है। द्रव्याश्रित होने से जीव के स्वाभाविक भाव पर अवलम्बित रहता है।

व्यवहार-औपाधिक भाव पर अवलम्बित होने से अन्य के भाव को अन्य का कहता है।

अब विचार करो कि ऊपर जो अर्थ किये गये हैं, उनमें से निश्चयाश्रय करने योग्य हैं अथवा व्यवहाराश्रय? जितनी जो आकुलता होती है, वह सब व्यवहाराश्रय के कारण होती है; और जो जितनी निराकुलता होती है, वह सब निश्चय के आश्रय से होती है; यह सब विचारक को ज्ञात हो जाना मुश्किल नहीं है।

❖ हिंसा का स्वरूप ❖

आगम ग्रंथ में हिसा के विषय में लिखा है कि :—

रागी-द्वेषी अथवा मूढ़ बनकर आत्मा जो कार्य करता है, वह हिंसा है। प्राणी के गुणों का तो वियोग हुआ, किन्तु आत्मा उस समय रागादि विकारों से मलिन नहीं हुआ, ऐसी स्थिति में समझना चाहिये कि हिंसा नहीं हुई है-वह अहिंसक ही है।

यह नहीं है कि अन्य जीव के प्राणों का विघात होने से ही हिंसा होती है, अथवा उसके प्राणों का वियोग नहीं होने से अहिंसा होती है; किन्तु यह समझना चाहिये कि आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। अर्थात् प्रमाद परिणामयुक्त आत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसा है।

आत्मा ही हिंसा है और वही अहिंसा है—ऐसा जिनागम में निर्णय किया है। प्रमाद रहित आत्मा को अहिंसक कहा है और प्रमाद सहित आत्मा को हिंसक कहा है। जीव के परिणामाधीन बंध होता है। जीव का मरण हो या न हो, परिणाम के वशीभूत हुआ आत्मा, कर्म से बद्ध होता है—ऐसी सत्य दृष्टि से बंध का संक्षिप्त स्वरूप कहा है। ❖

॥ जैनं जयतु शासनम् ॥

भगवान महावीर

संक्षिप्त जीवन चरित्र

लेखक — श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

तीर्थंकर का जन्म कब होता है ?

कर्मभूमि में आत्मस्वरूप को समझने के लिये अनेक जीव पात्र होते हैं, तब एक जीव अपने उन्नति क्रम को साधता हुआ उस भव में अपने गुणों को पूर्ण करनेवाला तथा पुण्य में भी पूर्ण मनुष्यरूप में जन्म लेता है। वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है, तब उसके बाद पात्र जीव उनका आत्मस्वरूप का उपदेश सुनकर, स्वरूप के भ्रम को दूर करके, धर्म को पाता है और वह विकार के महा समुद्र को पार कर लेता है। तीर्थंकर भगवान के निर्वाण के बाद जब तक धर्म को प्राप्त करने योग्य जीव होते हैं, तब तक उनके उपदेश और आगम के अभ्यास के द्वारा वे धर्म को पाते हैं और तब तक प्रत्येक तीर्थंकर का शासन चलता है और इसीलिये उन केवलज्ञानी महापुरुष को तीर्थंकर कहा जाता है। वर्तमान चौबीसी में भरतक्षेत्र में वैसे चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं। उनमें से श्री वर्द्धमानस्वामी अंतिम तीर्थंकर हैं।

महाविदेह और भरतक्षेत्र का अंतर

कर्मभूमि में महाविदेहक्षेत्र में आत्मस्वरूप को समझने के पात्र जीव हमेशा होते हैं और इसलिये वहाँ तीर्थंकर भी हमेशा होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में ऐसे योग्य जीव कभी-कभी होते हैं और कभी नहीं होते। जब काल क्रम से ऐसे योग्य जीव इस क्षेत्र में होते हैं, तब तीर्थंकर का जन्म होता है और जीव, धर्म को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर भगवान के निर्वाण के बाद भी जब तक उनके उपदेश को समझकर धर्म पालन करनेवाले जीव होते हैं, तब तक उन तीर्थंकर का शासन चलता है। यहाँ पर कुछ समय के लिये धर्म विच्छेद भी हो जाता है। ऐसे अंतरकाल चौथे काल में तीर्थंकर भगवान श्री सुविधनाथ से लेकर सात तीर्थों में आये थे।

वर्तमान काल में धर्म शासन

पंचम काल में धर्म विच्छेद नहीं होता, धर्म पंचम काल के अंत तक अर्थात् २१००० वर्ष तक चलता रहेगा और उसमें से अभी २५०० वर्ष पूर्ण हुये हैं। चौथे के धर्म विच्छेद काल की अपेक्षा से यह काल अच्छा है। धर्म इस काल के अंत तक रहेगा। इससे सिद्ध है कि वैसे लायक जीव वर्तमान में इस जगत में हैं और इसके बाद भी होंगे।

जब धर्म के स्वरूप को नहीं समझनेवाले, धर्मनायक या अगुआ बन बैठते हैं, तब जिज्ञासु

पात्र जीवों को धर्म प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ आ जाती हैं, इस अपेक्षा से इस काल को हल्का कहा जाता है। फिर भी इस काल में धर्म को पानेवाले जीव अभी हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे। इसलिये जीवों को निरुत्साही होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार वर्तमान में इस क्षेत्र में भगवान महावीरस्वामी का शासन प्रवर्तमान है।

भगवान महावीर के माता, पिता, जन्मस्थान और तिथि

भगवान महावीरस्वामी का जन्म विक्रम संवत् से पाँच सौ तेतालीस वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन वैशाली देश के कुंडलपुर नगर में राजा सिद्धार्थ के यहाँ हुआ था। उनकी माता का नाम त्रिशला देवी था। भगवान महावीर के पूज्य पिता इक्ष्वाकु या नाथवंश के मुकुटमणि समान माने जाते थे। भगवान की माता त्रिशलादेवी लिच्छवि क्षत्रियों के नेता राजा चेटक की पुत्रीं थी।

भगवान के तीर्थंकर नाम कर्म का बंध

भगवान महावीर अपने अंतिम तीसरे भव में छत्राकार नगर के नंदराजा थे। वे सम्यग्दृष्टि थे और सम्यक्त्व के नि:शंकितादि आठ गुणों से युक्त थे। उनने श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये थे। उसके बाद महामुनि प्रौष्ठिल के उपदेश से यथार्थ साधुत्व अंगीकार किया था। उन नंद मुनीश्वर ने भाव सहित १६ भावनाओं को भाते हुये तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था।

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र

आयु पूर्ण होने पर वे अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुये, वहाँ सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों का पालन किया। स्वर्ग के भोगोपभोगों को सड़े हुये तिनके के समान मानकर आयु को पूर्ण किया।

जन्म से छह मास पूर्व से रत्न वर्षा

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र के रूप में जब भगवान की आयु के छह मास शेष रहे तब, सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुबेर को सूचित किया कि भरतक्षेत्र में सिद्धार्थ राजा के घर कुंडलपुर में अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान का जन्म होनेवाला है, इसलिये नगर की शोभा करके रत्नों की वर्षा करो। कुबेर ने उस आज्ञा को स्वीकार करके रत्नों की वर्षा की।

गर्भ में आगमन

छह मास पूर्ण होने पर एक रात्रि के पिछले पहर में असाढ़ शुक्ला ६ के दिन भगवान की माता त्रिशला देवी को सोलह स्वप्न दिखाई दिये। उसके बाद उनने राजा सिद्धार्थ के पास जाकर अपने सोलह स्वप्न सुनाये और उनका फल पूछा। राजा सिद्धार्थ ने प्रत्येक स्वप्न का फल कह सुनाया और बताया कि तुम्हारे गर्भ में अंतिम तीर्थंकर आये हैं। यह सुनकर हर्ष और उल्लास

के साथ माताजी वहाँ से चली गईं। भगवान का गर्भ कल्याणक मनाने के लिये कुंडलपुर में देवों का आगमन हुआ और भगवान की माता की सेवा में छप्पन देवियां आकर रहीं। वे भगवान की माता से धर्मसंबंधी अनेक प्रश्न पूछती और कथा-वार्ता सुनाया करती थीं।

जन्म कल्याणक

चैत्रा शुक्ला १३ को भगवान का जन्म हुआ। भगवान का शरीर दैदीप्यमान और उद्योतमान होता है। उनके जन्म समय समस्त विश्व में प्रकाश हो जाता है और नरक के जीव भी कुछ समय के लिये साता का अनुभव करते हैं। उस समय चारों प्रकार के देवों का आसन कंपित हुये और देवलोक में अनाहत घंटी की आवाज हुई। सौधर्म के इन्द्र और देव, देवियां भगवान का जन्मोत्सव मनाने के लिये आये। भगवान को मेरुपर्वत पर ले गये और जन्माभिषेक किया, वहाँ से वापिस आकर भगवान को उनकी माताजी को सोंपकर उनके माता-पिता का सम्मान किया और सौधर्म इन्द्र ने तांडव नृत्य किया।

कुछ स्पष्टीकरण

इस विषय से अपरिचित जिन लोगों ने यह कथन नहीं सुना है, उनको समझाने के लिये कुछ विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में वर्तमान में जो जीव हैं, उनमें से कुछ लौकिक पुण्यवाले जीव भी होते हैं, उनने पूर्वभवों में आत्मा का दुर्लक्ष्य किया और साथ ही कुछ मंद कषाय भी की, इसलिए उनके सामान्य पुण्योदय के फलस्वरूप अनेक अनुकूल बाह्य संयोग आज भी दिखाई देते हैं। धनवानों की स्त्रियों अथवा रानियों की गर्भ रक्षा के लिये अनेक नौकरों, दासियों, वैद्य और औषधियों की व्यवस्था की जाती है। बालक के जन्म समय भी अनेक प्रकार की उच्चतम व्यवस्था की जाती है।

साधारण स्थितिवाले पुरुष के यहाँ पुत्र जन्म से लेकर चक्रवर्ती के यहाँ तक पुत्र जन्म का उत्सव उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है किन्तु वह परिपूर्ण नहीं हो पाता, किन्तु जिसके यहाँ तीर्थंकर का जन्म होता है, उसके यहाँ वह उत्सव पूर्ण होता है।

तीर्थंकर का जन्म मात्र मनुष्यों को नहीं, किन्तु त्रिलोक के समस्त प्राणियों को (मनुष्यों, तिर्यंचों, देव और नारकियों को) आनंदित करता है। उनके जन्मोत्सव के लिये बड़े-बड़े चक्रवर्ती और इन्द्र इत्यादि आते हैं और उसमें सम्मिलित होकर अपने को धन्य मानते हैं। क्योंकि तीर्थंकर का जन्म संसार के प्राणियों के लिये उद्धारक सिद्ध होता है। इस काल के २४ तीर्थंकरों में से अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीरस्वामी हैं। उनका जन्म होने पर तीनों लोक में शांति का साम्राज्य फैल गया था। जाति विरोधी प्राणी भी शांतिरस में ओतप्रोत हो गये थे।

जैसे पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देकर अंधकार का नाश करती है, उससे भी अनेक प्रकार अत्यधिक कुंडलपुर के महाराजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशलादेवी ने भगवान महावीर को जन्म देकर संसार के महान अज्ञानांधकार का नाश कराया था। उनके समान अंधकार का नाश अनंत सूर्यों के द्वारा त्रिकाल में भी होना सर्वथा अशक्य है।

भगवान महावीर स्वामी के जन्म कल्याणक महोत्सव का वर्णन अन्य संसारी प्राणियों के जन्मोत्सव से सर्वथा लोकोत्तर, अनुपम, असाधारण होता है और वह प्राणी मात्र के लिये कल्याणकारक होता है।

जब सम्यग्दृष्टि अर्थात आत्मोन्मुखी भाव को रखनेवाला जीव, आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता और धर्मानुराग में कर्तृत्वभाव के बिना जुड़ना होता है, तब किसी के तीर्थंकर नाम पद की पुण्य प्रकृति का बंध अवांछित वृत्ति से होता है। जगत में यह सर्वोत्तम पुण्य है। पुण्य का कोई भी पद उससे महान नहीं है। वैसे पुण्यवान जीव के माता-पिता भी उच्च पुण्यशाली होते हैं, वैसे पुण्यवान जीव के गर्भ कल्याणक और जन्म कल्याणक सर्वोत्कृष्ट रीति से मनाये जाते हैं, यह न्याय संगत ही है।

सौधर्म के इन्द्र तथा अन्य अनेक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं। जब वे यह जानते हैं कि भरतखंड में केवलज्ञान का सूर्य अब थोड़े ही समय में उगनेवाला है, तब वे धर्मरुचिवान होने के कारण ऐसे महान धर्मी जीव के कल्याणकोत्सवों को अपने लाभ के लिये मनाते हैं। जब तक सम्यग्दृष्टि पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता, तब तक उसे सच्चे देव-गुरु और धर्म के प्रति ऐसा राग हुए बिना नहीं रहता और उस राग से धर्म लाभ होगा—ऐसा कभी नहीं मानता।

पूर्वभव के ज्ञानों का अस्तित्व

भगवान जब अपनी माता के गर्भ में आते हैं, तब वे सम्यग्दृष्टि होते हैं और उसके सुमति, सुश्रुत और सुअवधि यों तीन ज्ञान होते हैं और वे तीनों ज्ञानों के साथ जन्म लेते हैं।

भगवान के शरीर की रचना

भगवान के शरीर पर १००८ उत्तम चिह्न होते हैं। उनके शरीर में बालक, तरुण अथवा वृदधत्व नहीं होता। बालक की तरह अज्ञानता, युवक की तरह मदांधता और वृद्ध की तरह जीर्ण देह नहीं हेता। समस्त जीवन भर उनके शरीर का अत्यंत सुंदर रूप और अतुल बल बना रहता है। उनके शरीर में पसीना इत्यादि नहीं होता। यद्यपि केवलज्ञान होने तक उनके अशन पान होता है किन्तु जन्म से ही नीहार नहीं होता, उनकी माता के ऋतुस्राव नहीं होता।

भगवान के जन्म के दश अतिशय

भगवान के ३४ अतिशय होते हैं, दश जन्म के, दश केवलज्ञान के और १४ देवकृत। उनमें से जन्म के दश अतिशय निम्न प्रकार हैं:—

(१) मलमूत्र का अभाव, (२) पसीने का अभाव (३) सफेद खून (४) समचतुरस्र संस्थान (५) वज्रवृषभनाराचसंहनन (६) सुंदररूप (७) सुगंधित शरीर (८) सुलक्षणता (९) अतुल्य बल (१०) हितमिष्ट वचन।

सम्यग्दर्शन की भूमिका में जो तीर्थंकर कर्म प्रकृति के बंध का भाव आता है, वह शुभभाव है। सम्यग्दृष्टि उसे अपने गुण की हानि मानता है। जो यह मानता है कि पुण्य से धर्म होता है, उसके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, यह मुमुक्षुओं को ध्यान में रखना चाहिये। शास्त्रों में पुण्य का कथन पुण्य के स्वरूप को समझने के लिये होता है। आत्मा को उससे लाभ होता है, यह मनवाने के लिये शास्त्रों का कथन नहीं है।

भगवान की बाल्यावस्था

तीर्थंकर अपने काल में सर्वोत्कृष्ट होते हैं। वे गृहस्थावस्था में उस पद वाले गृहस्थों में सर्वोत्कृष्ट होते हैं, उनका पुरुषार्थ सदा आत्मोन्मुखी होता है। आठवें वर्ष में ही वे अपने पुरुषार्थ से परावलंबनवृत्ति को इस हद तक तोड़ देते हैं कि उनके पंचम गुणस्थान की शुद्धि प्रगट हो जाती और शुभभाव में १२ व्रत का ग्रहण प्रगट होता है, उनके सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है। भगवान शुद्ध के लक्ष्य से धर्मध्यान में तल्लीन रहते थे। इसलिए उनका राग अतिमंद हो गया था।

भगवान का सम्यग्ज्ञान पूर्वक त्यागभाव

भगवान कुमारावस्था से ही विलासिता से दूर थे, वे सतत अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करते थे। जब उनने अपने माता-पिता के द्वारा राजा जितशत्रु की कन्या यशोदा के साथ अपनी सगाई करने का विचार ज्ञात किया, तब उनने वैसा करने के लिये स्पष्ट इनकार कर दिया। उस समय उनकी उम्र तीस वर्ष की थी। भगवान ने अवधिज्ञान के द्वारा देखा कि उनकी आयु अब ४२ वर्ष की शेष है, इसलिये उनने भाव साधुत्व प्रगट करने का तत्काल निश्चय कर लिया। भगवान के ३० वें वर्ष में क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया।

भगवान का दीक्षा कल्याणक

ब्रह्म स्वर्ग में लौकांतिक देव होते हैं और वे एक भवावतारी होते हैं। भगवान के पर्याय की शुद्धता और साधुत्व की योग्यता के लिये तैयारी होती हैं, तब वे भगवान के पास आकर उन्हें दीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञानरूपी सूर्य को प्रकाशित करने के लिये निवेदन करते हैं। इस प्रकार

भगवान महावीरस्वामी के पास लौकांतिक देव संबोधनार्थ आये और भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। यह जानकर चारों प्रकार के देवों को आनंद हुआ और उत्सव मनाने के लिये इस क्षेत्र में आये। और भगवान ने मगसिर वदी १० को दीक्षा ग्रहण की तथा केशलोंच किये, उसके बाद वे साधु के रूप में विचरने लगे।

जिस जीव के सातवां गुणस्थान प्रगट होता है, वह छठ्ठे और सातवें गुणस्थान में हजारों बार आता है। वह सच्चे साधु कहलाते हैं। उनके स्पर्श इंद्रिय संबंधी आसक्ति नहीं होती, इसलिये उनके शरीर को ढकने की वृत्ति भी नहीं होती। वहाँ पर निस्परिग्रह दशा होने से यथाजातरूप में भगवान और प्रत्येक भाव साधु होते हैं, इसलिये भगवान के वस्त्र या पात्र नहीं होता।

चंदना सती

चेटक राजा के सात लड़कियां थीं। उनमें एक भगवान की माता त्रिशला, दूसरी ज्येष्ठा, तीसरी चेलना (श्रेणिक राजा की पत्नी) चौथी मशक और पांचवीं चंदना थी। वह बहुत रूपवती थीं। उसे एक वनचर ले भागा और कौशाम्बी नगरी में वृषभसेन के यहाँ दे दी। वृषभसेन के सुभद्रा नाम की स्त्री थी, उसे डाह उत्पन्न हो गई, इसलिये वह चंदना को बंधन में डालकर दु:ख देने लगी। उस दशा में भी वहाँ पर चंदना धर्म ध्यान में लीन रहती थी। एक बार भगवान आहार के लिये गांव में पधारे। चंदना को भगवान के दर्शन हुये और पुण्य के उदय से उसके शरीर के सब बंधन टूट गये। चंदना का समस्त शोक संताप दूर हो गया और चित्त में परम उल्लास आ गया। उसने हाथ जोड़कर और मस्तक नवाकर भगवान की वंदना की और विधिपूर्वक भक्तिभाव से उनके पडगाहा। चंदना के पास जो छाछ और कोदों का आहार था, वह चावल और दूध की खीर के रूप में परिणत हो गया और जो उसके पास मिट्टी का पात्र था, वह सोने का हो गया। उसने भगवान की नवधाभक्ति करके प्रासुक आहार दिया, इससे स्वर्गलोक में देवों को आश्चर्य हुआ और उनने रत्नादि की वर्षा की और कुछ समय के बाद चंदना ने आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली।

रुद्रकृत उपसर्ग

भगवान पर अनेक उपसर्ग हुये, किन्तु वे कभी चलायमान नहीं हुये। एक बार भगवान विहार करते हुये नगर में पधारे। वहाँ श्मशान में रुद्र ने भगवान पर बहुत बड़ा उपसर्ग किया। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस जीव के गुण प्रगट होता है, वह दूसरे पर प्रगट हो ही जाना चाहिये ऐसी बात नहीं है। यह हो सकता है कि दूसरों को गुण मालूम भी न हो। उसकी चौभंगी निम्न प्रकार है:—

(१) एक जीव गुणी हो और वह दूसरे को मालूम हो (२) एक जीव गुणी हो और वह

दूसरे को नहीं मालूम हो (३) एक जीव गुणी न होकर के भी दूसरे को गुणी मालूम हो (४) एक जीव गुणी न हो और वह दूसरे को गुणी न मालूम हो।

इस चौभंगी को बहुत से लोग एक तरफ रख देते हैं, उदारता के संबंध में भी यह चौभंगी लागू होती है, इससे विरुद्ध मानना, सो महादोष है। इस क्षेत्र में इस काल में जो मनुष्य थे, उनमें सर्वोत्कृष्ट गुणी भगवान महावीर थे, फिर भी रुद्र को वैसा भासित नहीं हुआ और जब भगवान उज्जैन नगरी के श्मशान में ध्यान मग्न होकर बैठे हुए थे, तब अंतिम रुद्र सात्यकि ने प्रभु को देखा और उसी क्षण उन पर उपसर्ग किया। अपनी बल विद्या का प्रारंभ किया, अति विकराल स्वरूप धारण किया, क्षण में स्थूल और क्षण में सूक्ष्म होने लगा। कहीं गाने लगा तो कहीं रोने लगा, नख और दाँत बढ़ा लिये तथा मुँह में से भयंकर ज्वाला निकालने लगा। किन्तु भगवान अडोल बने रहे, तब उसने भयंकर सिंह का रूप धारण किया और घोर गर्जना करने लगा। अपने हाथों को विकराल शस्त्र बना लिया, फणीन्द्रनाग का रूप धारण करके अपने भयंकर फण को इधर-उधर चलाने लगा। आयुधधारी सेना का रूप भी बताया और 'मारो मारो' इत्यादि शब्द जोर-जोर से बोलने लगा किन्तु भगवान अपनी आत्मा में लीन रहे और पापी रुद्र पाप करता रहा।

भगवान के उपवास का स्वरूप

भगवान के सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र था और वे चारित्र की रमणता में ऐसे एकाग्र रहते थे कि उन्हें आहार लेने की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती थी। 'जितनी हद तक राग छूटता है, उतनी हद तक उस योग्य बाह्य संयोग भी नहीं होता' इस नियम के अनुसार भगवान के आहार लेने की वृत्ति जागृत न होने से उनके आहार का बाह्य योग भी न था। भगवान ने सम्यक्भाव में स्थिर होकर इच्छा का निरोध अर्थात् शुभाशुभभाव का निरोध किया था, इसे तप कहा जाता है।

अनेक बाधायें उपस्थित होने पर भी, अपने परिणामों में चंचलता न होने देना, सो तप है। जितनी चंचलता होती है, उतनी ही तप में कमी कहलाती है।

भगवान ज्ञान-ध्यान की रमणता में १२ वर्ष लीन रहे।

केवलज्ञान की उत्पत्ति

उस तप के परिणामस्वरूप जृंभिका गाँव के बाहर ऋजुकूला नदी के तट पर शालवृक्ष के नीचे ध्यान करते करते वैशाख शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञानी-अरिहंत हो गये।

६६ दिन तक दिव्यध्वनि का न खिरना

भगवान महावीर स्वामी के केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, किंतु ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी, इसका कारण यह था कि उस समय सभा में भगवान महावीर स्वामी की वाणी को झेलने

की योग्यता रखनेवाला कोई महान् पात्र उपस्थित नहीं था। धर्मसभा में उपस्थित इन्द्र ने विचार किया तो उसे मालूम हुआ कि भगवान की वाणी को झेलने के लिये सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभा में उपस्थित नहीं है और उसने अपने अवधिज्ञान से निश्चय किया कि वैसा पात्र जीव इन्द्रभूति है और इसलिये वह ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गया। गौतम में तीर्थंकर भगवान के गणधर होने की योग्यता थी किन्तु उस समय उन्हें यथार्थ भान नहीं था। वे हजारों शिष्यों के बीच बैठ यज्ञ कर रहे थे। इन्द्र ने वहाँ ब्राह्मण वेष में जाकर प्रश्न किया कि:—

''पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचनमाता तथा बंध और मोक्ष का स्वरूप क्या है और उसके कितने कारण हैं।''

यह प्रश्न सुनकर गौतम महावीर प्रभु के पास जाने के लिये रवाना हुये। मानस्तंभ के पास पहुंचते ही उसका मान गलित हो गया और उसने जब भगवान की वंदना की तो उसे धर्म प्राप्त हुआ और पाँच महाव्रत ग्रहण किये। महाव्रत ग्रहण करने के बाद भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि खिरी और गौतम को गणधर पदवी मिली। उनके चार ज्ञान और अनेक लब्धियाँ प्रगट हुई। गणधर पद मिलने के बाद उनने उसी दिन (आषाढ़ वदी १ को) रात्रि के अगले और पिछले दो प्रहरों के एक-एक अन्तर्मुहूर्त में ही बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना की।

केवलज्ञान के दश अतिशय

केवलज्ञान के प्रगट होने पर दश अतिशय केवलज्ञानी भगवान के प्रगट होते हैं। तदनुसार भगवान महावीरस्वामी के भी वे प्रगट हुये। वे दश अतिशय निम्न प्रकार हैं:—

(१) उपसर्ग का अभाव, (२) अदया का अभाव, (३) शरीर की परछाईं का न होना (४) चतुर्मुख का दिखना (५) सर्व विद्या का प्रभुत्व (६) नेत्रों की पलकें न झपकना (७) सौ योजन में सुकाल का होना (८) आकाश में गमन (९) कवलाहार का न होना और (१०) नख केशों का न बढ़ना।

तीर्थंकर भगवान के देवकृत १४ अतिशय

तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों होते हैं। उनमें दश जन्म के और दश केवलज्ञान के अतिशय कहे जा चुके हैं। बाकी के चौदह देवकृत अतिशयों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

(१) अर्धमागधी भाषा का होना, (२) सब जीवों में परस्पर में मित्रता का होना, (३) सब ऋतुओं के फल फूलों का होना (४) दर्पण के समान भूमि (५) निष्कंटक भूमि का होना (६) मंद सुगंध हवा का चलना (७) गंधोदक की वृष्टि का होना (८) विहार के समय चरणों के नीचे कमल की रचना (९) सर्व धान्यों की उत्पत्ति (१०) दशों दिशाओं की निर्मलता

(११) देवों का आह्वानन शब्द (१२) धर्म चक्र का चलना (१३) अष्टमंगल द्रव्यों का होना और (१४) सब जीवों को आनंद का होना।

दिव्यध्वनि का स्वरूप

भगवान वीतराग होते हैं, इसलिये वे इच्छा रहित होते हैं किन्तु पूर्वबद्ध वचनवर्गणा, आत्मा के सर्व प्रदेशों से छूटती है। उसकी ओंकार ध्वनि होती है, वह एकाक्षरी अथवा निरक्षरी कहलाती हैं। उसमें प्रति समय संपूर्ण ज्ञान का कथन होता है। सुननेवाले जिस वस्तु को समझने का भाव करते हैं, वह दिव्यध्वनि के द्वारा सुनकर समझ लेते हैं। क्योंकि वह अपनी-अपनी भाषा में समझ ली जाती है, इसलिये दिव्यध्वनि को साक्षरी भी कहा जाता है।

उपदेशदाता या धर्मप्ररूपक

भगवान के इच्छा नहीं होती, इसलिये वे उपदेश नहीं देते। सहज स्वभाव से वचनवर्गणा दिव्यध्वनि के रूप में खिरती है, उसे सुनकर जीव अपनी पात्रता से धर्म को पाते हैं और उसी अपेक्षा से दिव्यध्वनि के निमित्त होने के कारण भगवान को उपचार से उपदेश दाता कहा जाता है। जिसे लाभ होता है, वह विनयपूर्वक कहता है कि भगवान, उपदेश दाता हैं—इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर कथनमात्र से यों कहने की पद्धति है।

संघसंस्थापक

भगवान रागरहित हैं। उनके संघसंस्थापन का भाव था, यों मानना न्याय विरुद्ध है। पात्र जीवों ने दिव्यध्वनि का उपदेश सुना और उसके परिणाम स्वरूप चार प्रकार के भाव साधु हुये, इसलिये विनय से यह कहा जाता है कि भगवान ने चतुर्विध साधु संघ की स्थापना की थी किन्तु मात्र यह उपचार है। वह उपदेश सुनकर धर्म प्राप्त करनेवाले जीवों के प्रकारांतर से साधु, आर्यिका श्रावक और श्राविका नाम के चार विभाग हैं। इन्हें भी चतुर्विध संघ कहा जाता है।

दिव्यध्वनि में कथित वस्तु का संक्षिप्त स्वरूप

(१) जीव अनंत हैं, प्रत्येक जीव स्वयंसिद्ध पूर्ण चैतन्यस्वरूप वस्तु है।

(२) परवस्तुओं से मुझे लाभ या हानि होती है, यों अपनी अवस्था में अनादिकाल से मान रहा है; इसलिये वह दु:खी है।

(३) प्रत्येक जीव स्वयं नित्य परिणामी वस्तु है (अपनी वर्तमान अधूरी पर्याय-हालत-विकल्प या निमित्त पर लक्ष्य न दे कर) यदि अपने नित्य ध्रुव चैतन्यस्वभाव की और लक्ष्य दे तो भ्रम दूर हो जाय और सुख प्रगट हो।

(४) जड़कर्म और शरीर के साथ तेरे आत्मा का मात्र एक क्षेत्रावगाहरूप संबंध है।

(५) जो यह मानता है कि मैं अन्य जीवों को जिला रहा हूँ अथवा पर जीव मुझे जीवित रख रहे हैं-वह मूढ़ है, अज्ञानी है; ज्ञानी से विपरीत है।

(६) जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है; ज्ञानी से विपरीत है।

(७) जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी कर सकता हूँ या पर जीव मुझे सुखी कर सकते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है; ज्ञानी से विपरीत है।

(८) हे भाई! यह मानना कि मैं जीवों को सुखी या दु:खी कर सकता हूँ, मैं जीवों को धर्म तक पहुँचा सकता हूँ, उन्हें मोक्ष दिला सकता हूँ अथवा उन्हें बंधन में डाल सकता हूँ तो यह तेरी मूढ़मति है, इसलिये वह मिथ्या है।

(९) प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय पर से भिन्न हैं। प्रत्येक के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर से बिल्कुल भिन्न होने के कारण दूसरों के साथ एकरूप नहीं हो सकते, इसलिये कोई किसी के लिये कुछ भी नहीं कर सकता। मात्र अज्ञानी पर के ऊपर लक्ष्य रखते हैं, इसलिये उनके विकार होता हैं। जीव के विकृत होने पर जड़ कर्म अपने निमित्त से वहाँ आते हैं, अज्ञानियों का यह विकल्प है-भ्रम है कि 'जीवों ने कर्मों को बांधा अथवा पर का कुछ किया है' अनादि अज्ञान के कारण इस प्रकार कहने का प्रसिद्ध रूढ़ व्यवहार है, इसलिये अज्ञानी जीव अपनी भाषा में यों कहते हैं। किन्तु शब्दानुसार अर्थ नहीं होता लेकिन भाव के अनुसार होता है।

(१०) जीव को पहले मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। उसके बिना यथार्थ ज्ञान या चारित्र नहीं होता।

(११) जो सम्यग्दर्शनयुक्त होता है, उसके ही सच्चा व्रत, दान, तप अथवा शील हो सकता है, अज्ञानी के नहीं।

(१२) जड़ द्रव्य के पाँच भेद हैं। उनमें चार अरूपी हैं और एक पुद्गल द्रव्य रूपी है। उसके विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हैं। शब्द उसकी पर्याय है।

(१३) जीव अपने स्वरूप को समझने के लिये जब पुरुषार्थ करता है, तब स्वयं समझ सकता है। यदि वह स्वयं पात्र होता है तो अपने (निमित्त के) कारण से निमित्त मौजूद होता है। निमित्त पर का कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह उपस्थित होता है।

(१४) तूने आज तक पर का (जीव अथवा जड़ का) किंचित् मात्र भी हानि या लाभ नहीं किया।

(१५) आज तक किसी ने (जड़ अथवा जीव ने) तुझे किंचित् मात्र भी हानि या लाभ नहीं किया।

(१६) हे जीव! तू क्यों डरता है? जगत् की कोई भी वस्तु जड़ अथवा चेतन तुझे दु:खी या सुखी नहीं कर सकती। तू स्वयं पूर्ण सुख से नित्य भरा हुआ है। तू क्यों अपने सुख के लिये जगत की वस्तु (जड़ अथवा चेतन) से आशा रख रहा है?

(१७) जब कि तुझे पर से सुख या दु:ख नहीं होता, तब तुझे पर में हर्ष या शोक, इष्ट या अनिष्ट, अथवा राग या द्वेष करने का क्या कारण है?

बस! यदि तू इतना यथार्थ समझ ले और अपने अखंड ध्रुव स्वरूप चैतन्यस्वभाव की ओर लक्ष्य करे तो तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट होगा और तू क्रम-क्रम से राग-द्वेष को दूर करके संपूर्ण वीतराग हो जायगा।

(१८) धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है। अपने स्वरूप को यथार्थ रीत्या समझे बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये स्वरूप को यथार्थ रीति से समझ कर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। अभव्य जीव उसे प्रगट नहीं कर सकता। भव्य वृद्ध, बाल, रोगी, निरोगी, सधन, निर्धन सभी उसे प्रगट कर सकते हैं।

(१९) सम्यग्दर्शन को प्रगट किये बिना कोई भी जीव सच्चा अहिंसक, सच्चा सत्यावलंबी, सच्चा अचौर्यभावी, सच्चा ब्रह्मचारी अथवा सच्चा अपरिग्रही अंशत: अथवा पूर्ण रूप से नहीं हो सकता।

(२०) सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है और मिथ्यात्व संसार का मूल है। इसलिये जीव के विकारीभाव (पुण्य-पाप, आस्रव-बंध) और अविकारी भाव (संवर, निर्जरा और मोक्ष) को समझकर शुद्धता प्रगट करना चाहिये।

अनेकांत का स्वरूप

कुछ लोग कहते हैं कि जब भगवान को केवलज्ञान हुआ था, तब जगत् में धर्म की जो मान्यताएँ चल रही थीं, उनका समन्वय करने के लिये भगवान ने अनेकांत की रचना की थी। किन्तु भगवान तो वीतराग हैं, उनके द्वारा रचना की जाने की बात कैसी?

भगवान को केवलज्ञान में प्रत्येक वस्तु का स्वरूप अनेकांतमय (अनेक धर्ममय) दिखाई दिया और इसलिये दिव्यध्वनि में अनेकांत स्वरूप आया।

जिसे जो जैसा अच्छा लगता है, वह अनेकांत का वैसा अर्थ किया करता है। इसलिये अनेकांत का जो वास्तविक स्वरूप है, वह यहाँ कहा जाता है।

भगवान अमृतचंद्राचार्य ने अनेकांत का स्वरूप बड़ी ही सुंदरता के साथ निम्नलिखित शब्दों में कहा है:—

''एक वस्तु में वस्तुत्व को उत्पन्न करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करना, सो अनेकांत है।''

अनेकांत के दो प्रकार हैं। एक सम्यक् अनेकांत दूसरा मिथ्या अनेकांत। इनमें से जो एक वस्तु में अपने-अपने प्रतिपक्षियों के साथ अनेक धर्मों का युक्ति आगम से विरोध रहित निरूपण करे तो वह सम्यक् अनेकांत है। और जो तत्-अतत् स्वभाव की शून्य कल्पना करे, सो मिथ्या अनेकांत है। अपना प्रयोजनभूत तत्स्वरूप जिस प्रकार है, उस प्रकार और अतत् स्वरूप जिस प्रकार है, उस प्रकार वह न जाने और अनेक विपरीत कल्पनाऐं किया करे, सो मिथ्या अनेकांत है।

एकांत भी दो प्रकार का है

(१) सम्यक् एकांत (२) मिथ्या एकांत। उसमें हेतु विशेष की सामर्थ्य की अपेक्षा से प्रमाण के द्वारा प्ररूपित पदार्थ के एक देश (भाग) को कहना, सो सम्यक् एकांत है। और एक ही गुण है, यह निश्चय करके दूसरे अन्य समस्त गुणों को न मानना, सो मिथ्या एकांत हैं।

सम्यक् एकांत के संबंध में श्री समयसारजी में इस प्रकार कहा है:—

''आत्मा का कर्म निमित्तक मोह के साथ संयुक्तरूप अवस्था से अनुभव करते हुये जो संयुक्तपन है, सो भूतार्थ है-सत्यार्थ है। फिर भी स्वयं एकांत बोधबीजरूप स्वभाव है, उस के (चैतन्यभाव के) समीप जाकर अनुभव करते हुये जो संयुक्तपन है, सो अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।''

सिद्ध भगवान के एकांत सुख हैं, यों कहा जाता है, सो सम्यक् एकांत है क्योंकि उसमें सम्यक् अनेकांत निम्न प्रकार से आता है—सिद्ध भगवान के एकांत सुख है अर्थात् भगवान के सुख अस्तिरूप से है, संसारी सुख-दुःख नहीं हैं, इसलिये नास्तिरूप से है। इस प्रकार अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करना सिद्ध भगवान के सच्चे सुखरूप को उत्पन्न करता है।

श्री प्रवचनसार में एकांत दृष्टि और अनेकांत दृष्टि के अर्थ निम्न प्रकार किये हैं:—

एकांतदृष्टि का स्वरूप और उसका व्यवहार

जो जीव सर्व अविद्या के मूल कारण जीव, पुद्गल स्वरूप असमानजातिवाले द्रव्य की पर्याय को अपनी मानता है और आत्मस्वभाव की भावना में नपुंसक की भाँति अशक्ति (निर्बलपन) धारण करता है, सो वास्तव में निरर्गल एकांतदृष्टि ही है।

मैं मनुष्य हूँ, यह मेरा शरीर है, इस तरह के भिन्न-भिन्न प्रकार के अहंकार और ममकार से विपरीत ज्ञानी होकर अविचलित आत्मव्यवहार को धारण करने की जगह समस्त निंद्य क्रिया

समूह को अंगीकार करने से पुत्र, स्त्री, मित्रादि मनुष्यव्यवहार का आश्रय करके राग-द्वेषी होता है और परद्रव्य-कर्मों की संगति से पर समय-विकार भाव में रत होता है।

अनेकांत दृष्टि और उसका व्यवहार

जो जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों की अभिन्नता से स्थिर हैं, जो समस्त विद्याओं के मूलभूत भगवान आत्मा के स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, जो आत्मस्वभाव की भावना से पर्याय (शरीर-वर्तमान अवस्था) में रत नहीं है और आत्मस्वभाव में स्थिरता को बढ़ाते हैं, जो जीव स्वाभाविक अनेकांतदृष्टि से एकांतदृष्टिरूप परिग्रह को दूर करनेवाले हैं, जो मनुष्यादि गतियों में शरीर संबंधी अहंकार ममकार भावों से रहित हैं। जैसे अनेक ग्रहों में संचार करनेवाला रत्न का दीपक एक ही है, उसी प्रकार से जो एकरूप आत्मा को प्राप्त हुए हैं; जो अचलित चैतन्य विलासरूप आत्मव्यवहार को करते हैं, सो उनकी वह अनेकांतदृष्टि है। अयोग्य क्रिया का मूल कारण-मनुष्य व्यवहार है, उसे वह अंगीकार नहीं करता।

अनेकांतदृष्टि और एकांतदृष्टि तथा उनके निश्चय और व्यवहार के उपर्युक्त कथन में से निकलनेवाले सिद्धांत निम्न प्रकार हैं:—

मिथ्या अनेकांतदृष्टि संबंधी

(१)

१— संसार का मूल अविद्या (मिथ्या दर्शन) है और उसका फल शरीर की प्राप्ति है।

२— मनुष्य शरीर को अपना मानता है, मैं मनुष्य हूँ, यों मानता है, जो शरीर है सो मैं हूँ, और शरीर मेरा है, यों मानता है अर्थात् वह शरीर का कुछ कार्य कर सकता है, यह मानता है, वह आत्मा अनंत रजकणों को एकरूप मानता है। (अनंत के मिलाप को एक मानता है); इसलिये एकांतदृष्टि है और वह निश्चय कुनय है।

३— एकांत दृष्टि का व्यवहार अर्थात् मैं मनुष्य हूँ—ऐसा भाव करना, सो मिथ्यादृष्टि का व्यवहार है, वह व्यवहार कुनय है।

४— उपर्युक्त एकांतदृष्टि को भगवान ने परिग्रह कहा है।

सम्यक् अनेकांत दृष्टि संबंधी

१— समस्त सत्य विद्या के मूलरूप भगवान आत्मा के स्वरूप को प्राप्त होना, आत्मस्वभाव की भावना (अभ्यास) में युक्त होना और आत्मस्वभाव में स्थिरता को बढ़ाना, सो अनेकांत दृष्टि है।

२— जीव का स्वभाव अनेकांत दृष्टि है, मैं और शरीर पृथक् हैं, मैं शरीर का कुछ नहीं

कर सकता, मैं शरीर को कुछ कर सकता हूँ यों मानना सो एकांत दृष्टि रूप परिग्रह है। उस मान्यता को मैं दूर करनेवाला हूँ, यों मानता है, इसलिये वह अनेकांत दृष्टि है। वह जीव को राग-द्वेष तथा परवस्तु को अनेक (पृथक्) मानता है, इसलिये वह अनेकांत दृष्टि है।

३— वह अपने एकरूप (ध्रुवस्वभाव रूप) आत्मा का आश्रय करता है, वह उसका निश्चयनय है।

४— अचलित चैतन्यविलासरूप आत्मव्यवहार को वह अंगीकार करता है, सो वह उसका व्यवहारनय है।

ज्ञेय के भिन्न-भिन्न पहलुओं का ज्ञान (नय)

प्रत्येक वस्तु में त्रिकाल स्थिर रह सके और समय-समय पर अवस्थांतर होता रहे—ऐसा स्वभाव है और फिर एक वस्तु अपनी अपेक्षा से अस्तिरूप है और परापेक्षा से नास्तिरूप है तथा प्रत्येक वस्तु में अनंत गुण और समय-समय पर उन गुणों की एक-एक अवस्था होने के कारण समय-समय पर सभी गुणों की (अवस्था) साथ में लेने पर अनंत अवस्था होती है, इस प्रकार ज्ञेय पदार्थों में अनेक विभाग (पहलू) हो जाते हैं। जब अपूर्ण जीव एक विभाग का विचार करता है, तब वह दूसरे विभागों के होने पर भी, उनका विचार एक साथ नहीं कर सकता; इसलिये जो विभाग ज्ञान में लिया है, उसे उस विभाग का ज्ञान हुआ कहलायेगा। वह ज्ञान आंशिक है। यदि उसके उस समय ज्ञान में गौणरूप से यह हो कि दूसरे भी विभाग हैं तो जिस विभाग को ज्ञान में प्रधान किया है, वह समस्त ज्ञान का अंश है, इसलिये वह 'नय' कहलाता है।

सप्तभंगी का स्वरूप

प्रत्येक वस्तु को समझने के लिये उसका ज्ञान सात प्रकार से हो सकता है। इसलिये उसे सप्तभंगी कहते हैं। उसके दो उपभेद बताये गये हैं। (१) प्रमाण सप्तभंगी (२) नय सप्तभंगी। ऐसा भगवान की दिव्यध्वनि में आया है। उसमें से प्रमाण के दो भंग 'अस्ति-नास्ति' हैं, उन्हें मुमुक्षुओं को विशेषत: समझना चाहिये। यदि जीव यथार्थ रीति से यह जान ले कि वह स्वयं अस्तिरूप कैसे है ? और स्वयं किस प्रकार नहीं है तो उसकी समझ में आ जाय कि मैं स्व-रूप से हूँ और पर रूप से नहीं हूँ। मैं स्व-रूप से अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से हूँ; इसलिये मैं पर का हानि-लाभ नहीं कर सकता और पर मेरा हानि-लाभ नहीं कर सकता। मैं स्वयं ही अपने अच्छे-बुरे का कर्ता हूँ, मैं अपने आप दोषों को करता हूँ, फिर भी दूसरे का दोष निकालना, यह विपरीतता है, इसलिये प्रत्येक जीव को उस स्वरूप को समझ कर, विपरीतता को दूर करना चाहिये। ऐसा उपदेश इन भंगों के द्वारा भगवान ने दिया है।

भगवान के द्वारा प्ररूपित अहिंसा

अहिंसा चारित्र का अंग है और सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकता; इसलिये मिथ्यादृष्टि के वास्तविक अहिंसा नहीं होती।

लौकिक मान्यता ऐसी है कि पर जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये, इस प्रकार के धर्म का उपदेश भगवान ने दिया है। पर यह मान्यता भूल से भरी हुई है। 'किसी जीव को नहीं मारना चाहिये, दु:ख नहीं देना चाहिये' ऐसा उपदेश प्रत्येक घर में लोग दिया करते हैं। पाठशालाओं में भी वह उपदेश किसी न किसी अंश में दिया जाता है। यदि भगवान ने उसे धर्म कहा हो तो भगवान को लौकिक पुरुष मानना चाहिये, किन्तु भगवान के अनंत वीर्य प्रगट होने के बाद जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है, उसमें ऐसा उपदेश होता है कि यह लौकिक मान्यता गलत है। कोई किसी की हिंसा नहीं कर सकता किन्तु जीव, हिंसा के विकारीभाव कर सकता है और इस प्रकार जीव अनादिकाल से अपनी हिंसा कर रहा है। भगवान ने अहिंसा का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जीव में मोह (मिथ्यादर्शन) और राग-द्वेष का उत्पन्न होना, सो हिंसा है और उसका पैदा न होना एवं आत्मस्वरूप में स्थित रहना, सो अहिंसा है, यह अहिंसा ही सच्चा धर्म है। भाव हिंसा के बिना द्रव्य प्राणों का घात भी नहीं कहलाता। जो जीव उक्त अहिंसा का सर्वथा पालन नहीं कर सकता, वह जितने अंश में सच्ची अहिंसा को पालेगा उतने ही अंश में अहिंसक कहलायेगा और शेष अंशों में हिंसा का भागी है। ध्यान रहे कि "(जितने अंश में) वीतराग भाव है, सो वहीं अहिंसा है, और शुभराग भी हिंसा है।" इस अहिंसा का भगवान महावीर स्वामी ने प्ररूपण किया है। भगवान अलौकिक आत्मा थे, इसलिये उन के द्वारा बताई हुई अहिंसा भी अलौकिक होनी चाहिये, यही न्याय की बात है।

अपने स्वरूप को यथार्थ रीति से समझकर मिथ्यादर्शन को दूर किये बिना कोई भी जीव अहिंसक, सत्यरूप, अचौर्यरूप, ब्रह्मचर्यरूप अथवा अपरिग्रहरूप अंशत: या पूर्णरूप से नहीं हो सकता। स्पष्टतया दिव्यध्वनि से जब यह धर्मोपदेश प्रगट होता था, तब शासन के भक्त देव दुंदुभिनाद से उसका स्वागत करते थे।

श्रोताओं द्वारा प्रगटित फल

भगवान के इस उपदेश को सुनकर बहुत से जीवों ने धर्म प्राप्त किया अर्थात् वे सम्यग्दृष्टि हुये। सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यक्चारित्री हुये। जब वे शुद्ध भाव में नहीं रह सकते, तब अशुभभाव को दूर करके शुभभाव में रहते थे। किसी भी जीव की हिंसा करने का भाव, पाप भाव है; इसलिये

ऐसे भावों को भी उन ने दूर कर दिया था। जिनने स्वरूप को तो नहीं समझा किन्तु स्वरूप को समझने की जिनमें रुचि हुई, उनने भी हिंसा के तीव्र अशुभभाव को दूर कर दिया था। जिनकी रुचि स्वरूप को समझने की तरफ नहीं हुई, वे मंद कषाय की ओर प्रेरित हुये और इसलिये उनने भी कुछ अंशों में अशुभभाव को छोड़ दिया। व्यवहारी (अज्ञानी) लोगों की भाषा में—पर जीवों की हिंसा उस कारण से रुकी, इसलिये अहिंसा बढ़ी, जीव बचे, यों कहने का रूढ़ प्रसिद्ध व्यवहार है। इसलिये लौकिक रीति से तो यह कह सकते हैं कि 'भगवान के उपदेश से पर जीवों की हिंसा रुक गई।' किन्तु शब्दानुसार उसका अर्थ किया जाय तो भगवान पर के कर्ता कहलायेंगे, जो कि असत्य है।

गणधर पद की स्थापना का विरोध

भगवान पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षा प्राप्त काश्यप नाम के एक मुनि थे। वे भगवान महावीर के समवसरण में धर्मोपदेश सुनने के लिये गये। उनकी मान्यता ऐसी थी कि 'मैं गणधर के पद योग्य हूँ, इसलिये गणधर के रूप में मेरी स्थापना होगी।' किन्तु इससे विरुद्ध ही हुआ। श्री इन्द्रभूति (गौतम) को गणधर पद मिला, इसलिये नाराज होकर वे मुनि, समवसरण से बाहर जाकर यह कह कर विरोध करने लगे कि 'महावीर तीर्थंकर ही नहीं है, वह तो एक मायाजालवाले हैं। यदि वे सच्चे तीर्थंकर होते तो मुझे गणधर पद मिलता।' सत्य का स्वरूप ही ऐसा है कि उससे विरुद्ध असत्य, जगत में होता ही है। और असत्यभाव की प्रगटता सत् के विरोध में ही हो सकती है।

जैनशासन

जैनशासन क्या है, इसके विषय में अनेक विविध प्रकार की और विचित्र मान्यताएँ प्रचलित हैं। जिज्ञासु सत्य स्वरूप को समझ सके, इसलिये इस संबंध में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (बंधरहित और पर के स्पर्श से रहित) अन्यपन से रहित, विशेष रहित (तथा अध्याहार से चला-चलता रहित, अन्य के संयोग से रहित) देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

स्पष्टीकरण—उपरोक्त पाँच भाव स्वरूप आत्मा की जो अनुभूति है, वही समस्त जिनशासन की अनुभूति है।

जो ज्ञान है, सो आत्मा है और जो आत्मा है, सो ज्ञान है; इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि से आनेवाला जो सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल अपने गुणों में एकरूप, पर निमित्त से उत्पन्न हुये भावों से भिन्न अपने स्वरूप का जो अनुभवन है, सो ज्ञान का अनुभवन है और जो यह अनुभव है, सो भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है अर्थात् भावश्रुत-ज्ञानरूप जिनशासन है। जो आत्मा की अनुभूति है, सो वही भाव जिनशासन है।

इस संबंध में भावपाहुड़ में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनशासने भणितं।
मोह क्षोभ विहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

अर्थ— जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने यह कहा है कि पूजादिक तथा व्रतादिक से युक्त होना, सो पुण्य है किन्तु मोह (मिथ्यादर्शन) और क्षोभ (चारित्रमोह) रहित जो आत्मा का परिणमन है, सो धर्म है।

भावार्थ—लौकिक जन तथा कोई अन्यमती कहते हैं कि— 'जो पूजादिक शुभक्रिया तथा व्रत क्रिया सहित है, सो जैनधर्म है, किन्तु यह ठीक नहीं है। जैनमत में जिनेन्द्र भगवान ने यह कहा है कि—जो पूजादिक में और व्रत सहित होता है, उसमें जो मंद कषाय हो तो पुण्य है। वहाँ पर पूजा के बाद जो ''आदिक-और'' शब्द का प्रयोग किया है, उससे भक्ति, वन्दना, वैयावृत्य आदि लेना चाहिये, जो कि देव, शास्त्र, गुरु के प्रति होता है और फिर उपवास आदिक व्रत हैं, जो शुभक्रिया है, उसमें आत्मा के राग सहित शुभपरिणाम हैं, उसके द्वारा पुण्य कर्म उत्पन्न होता है, इसलिये उसे पुण्य कहते हैं। उसका फल स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है।

'मोह और क्षोभरहित आत्मा का परिणाम' कहा है, उसमें मोह का अर्थ अतत्त्व श्रद्धान हैं तथा क्रोध, मान, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा यह छह द्वेष हैं और माया, लोभ, हास्य, रति, पुरुष, स्त्री, या नपुंसक ये सात राग हैं। इन तेरह प्रकृतियों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव विकार सहित (मोह-क्षोभ रूप) चलाचल व्याकुल होता है किन्तु उस विकार से रहित शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप जो सच्चा भाव है, वह आत्मा का धर्म है। इस धर्म से आगामी कर्म का आस्रव रुकता है और संवर होता है और पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होती है। संपूर्ण निर्जरा के होने पर मोक्ष होता है। जिसके सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया है और आंशिक चारित्रमोह मौजूद है, उसके शुभ परिणाम को उपचार से धर्म कहा जाता है। (उपचार से अर्थात् वास्तव में नहीं; किन्तु आंशिक शुद्ध भाव हो, तब जो शुभभाव होता है, उसे अज्ञानी के शुभभाव से अलग बताने के लिये निमित्त अथवा उपचार कहा जाता है), किन्तु जो मात्र शुभ परिणाम को ही धर्म मानकर संतुष्ट है, उसे

धर्म प्राप्ति नहीं है। शुभ करते-करते शुद्ध परिणाम प्रगट होगा, यह माननेवाला मानों यह मानते हैं कि विकार के करते-करते अविकारपन प्रगट होगा और इसलिये वह भूल है, इस प्रकार जैन-शासन का उपदेश है। *(देखो, अष्टपाहुड़, पृष्ठ २१९-२२०)*

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पर्शति।
पुण्यं भोग निमित्तं नहि तत् कर्म क्षय निमित्तम्॥८४॥

अर्थ—जो जीव, पुण्य को धर्म समझकर श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है; वह पुण्य, भोग का कारण होने से स्वर्गादिक के भोगों को प्राप्त करता है किन्तु इतना स्पष्ट है कि पुण्य कर्म क्षय का कारण नहीं है।

भावार्थ—शुभक्रियारूप पुण्य को धर्म जानकर उसका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करने से पुण्य कर्म का बंध होता है और उसके द्वारा स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति होती है किन्तु उससे कर्मक्षयरूप संवर-निर्जरा या मोक्ष नहीं होता।

भगवान का विहार

भगवान वीतराग होते हैं, इसलिये उनके कोई भी इच्छा नहीं होती। भगवान के सेवक इन्द्र इत्यादि, भव्य जीवों के हित के लिये तथा धर्म की प्रभावना के लिये भगवान से विहार की प्रार्थना करते हैं, ऐसा उनका नियोग है। जहाँ-जहाँ पात्र जीव होते हैं, वहाँ-वहाँ बिना ही इच्छा के भगवान का विहार हुआ था।

राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर भगवान के पधारने पर इन्द्र ने वहाँ समवसरण की रचना की थी। वहाँ पर राजा श्रेणिक वन्दना तथा धर्मोपदेश श्रवण करने के लिये गये थे।

श्रेणिक राजा ने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद सोलह भावनाओं को भाते हुये भगवान के समीप तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था। उनके व्रत, संयम, नियम इत्यादि कुछ भी नहीं था, किन्तु वे सम्यग्दृष्टि थे। आगामी चौबीसी में वे प्रथम तीर्थंकर होंगे।

भगवान का 'महावीर' उपनाम

श्री वर्धमान स्वामी गत अनेक भवों से सम्यग्दृष्टि थे। उस दृष्टि के साथ आत्मा की स्थिरता में लीन रहने के लिये भगवान महान् पुरुषार्थ करते थे। "अपने पुरुषार्थ के बिना धर्म नहीं हो सकता" इस सिद्धांत पर भगवान ने अमल किया था। इसलिये इन्द्र इत्यादि भगवान के सेवक भगवान को महावीर के उपनाम से पुकारने लगे थे और इसलिये वे आज भी भगवान महावीर के नाम से प्रख्यात हैं।

भगवान का मोक्ष गमन

आयु की समाप्ति पर भगवान की आत्मा संपूर्ण शुद्ध हो गई और शरीर से आत्मा के पृथक् होने पर वह अपने ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में विराजमान हो गया। भगवान कार्तिक वदी अमावस्या के दिन वदी चतुर्दशी के पिछले भाग में प्रातः काल मुक्त हुये थे। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण की यह बात बिजली की तरह सर्वत्र फैल गई। थोड़ी ही देर में देवेन्द्रों, राजाओं, सामान्य देवों और मनुष्यों के समूह भक्ति से गद्‌गद् होकर निर्वाण भूमि (पावापुरी) में पहुँचे। उस समय प्रातःकाल में कुछ अंधेरा होने से रत्नदीपक और घृतदीपक इत्यादि संजोये गये थे।

भगवान महावीर विश्व के उपकारक और महान तीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर महापुरुष थे, इसलिये उनके निर्वाण कल्याणक के उपलक्ष्य में अगणित प्रदीप पंक्तियाँ प्रज्वलित हों, यह योग्य ही है। जन समूह, भगवान के निर्वाण दिन की समाप्ति की स्मृति में 'दीवाली' उत्सव मनाये यह स्वाभाविक ही है।

भगवान के शासन की वर्तमान स्थिति

भगवान का शासन २१०४२ वर्ष तक चलने वाला है, उसमें से अभी २५०० वर्ष हुये हैं अर्थात् अभी वीर शासन बहुत समय तक चलेगा, यह बतलाता है कि अभी भी जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का समय है।

फिर भी इस काल में भगवान के तत्त्वज्ञान के अभ्यास की ओर जैन समाज में घोर अरुचि फैल रही है और उसे प्राप्त करने का उपदेश भी विरले जीव ही करते हैं। इतना ही भाग बाह्य क्रिया पर भार देनेवाला है, जबकि दूसरा भाग व्यवहारिक शिक्षा की ओर अधिक है। श्रीमद् राजचन्द्र ने जैन समाज की वर्तमान स्थिति को निम्न लिखित प्रकार से बताया है। वह किस हद तक ठीक है, इसका निर्णय पाठकों को स्वयं करना चाहिये। श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि:—

(१) आश्चर्य कारक भेद हो गये हैं।

(२) खंडित है।

(३) संपूर्ण करने योग्य कार्य दुर्गम्य दिखाई देता है।

(४) उस प्रभाव के संबंध में महान अंतराय है।

(५) देश काल इत्यादि बहुत प्रतिकूल हैं।

(६) वीतराग का मत लोक प्रतिकूल हो गया है।

(७) रुढ़ि से जो लोग उसे मानते हैं, उनके लक्ष्य में भी वह प्रतीत नहीं ज्ञात होता अथवा

अन्यमत को वीतराग का मत समझकर प्रवृत्ति करते जा रहे हैं।

(८) यथार्थ वीतरागों के मत को समझने की उनमें योग्यता की बहुत कमी है।

(९) दृष्टि राग का प्रबल राज्य वर्तमान है।

(१०) वेष इत्यादि व्यवहार में बहुत बड़ी विडम्बना करके मोक्षमार्ग में अंतराय कर बैठे हैं।

(११) तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्ति के अत्यंत अग्रभाग में प्रवर्तित हैं।

(१२) ऐसा लगता है कि किंचित् सत्य के बाहर आने पर भी उन्हें प्राणघात के समान दु:ख होता है।

नोट :— इससे जिज्ञासु को निरुत्साह नहीं होना चाहिये किन्तु यह समझना चाहिये कि बड़ी ही सावधानी के साथ सत्य पुरुषार्थ करने का यह कारण है।

जैनधर्म का संक्षिप्त स्वरूप

परानुग्रह परम कारुण्यवृत्ति करते पहले चैतन्य जिन प्रतिमा हो—चैतन्य जिन प्रतिमा हो।

(श्रीमद् राजचंद्र)

भगवान के समय में धर्म प्राप्त महान् आत्माओं की संख्या:—

केवली ७००, पूर्वधारी ३००, मन:पर्ययज्ञानी ५००, विक्रियाऋद्धिधारी ९००, अवधिज्ञानी १३००, आचार्य ४००, उपाध्याय ९९००, श्रावक १००००००, श्राविकायें ३००००००, आर्यिकाएँ ३६००० और साधु १४०००।

उपरोक्त संख्या भगवान महावीर स्वामी के समय में थी। इनके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन को प्राप्त जीव बहुत बड़ी संख्या में थे।

वीतराग भगवान के कथन की तीव्रता को समझने के लिये वर्तमान में प्राप्त साधन

अनंत तीर्थंकरों के द्वारा कही गई आत्मा के स्वरूप की तीव्रता को समझने के लिये वर्तमान में निम्नलिखित शास्त्र साधन हैं :—

श्री समयसार परमागम, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री तत्त्वार्थसूत्र, श्री तत्त्वार्थसार, श्री बृहद्द्रव्यसंग्रह, श्री पद्मनंदिपच्चीसी, श्री गोमट्टसार, श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री राजवार्तिक, श्री लब्धिसार, श्री क्षपणासार, श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्री अष्टपाहुड़, श्री त्रिलोक प्रज्ञप्ति तथा श्री आत्मानुशासन आदि शास्त्र हैं।

इस विषय का सबसे प्राचीन साहित्य 'षट्खंडागम' श्री भूतबलि और श्री पुष्पदंत कृत

है उस पर धवला टीका हुई है, जो हिन्दी अनुवाद सहित छपकर प्रगट हो रही है। इसके अतिरिक्त श्री जयधवल और श्री महाधवल शास्त्र हैं। उनमें से श्री जयधवला टीका हिन्दी अर्थ सहित छपकर प्रगट हो रही है और महाधवला टीका का हिन्दी अनुवाद हो रहा है।

इन शास्त्रों के संबंध में श्रीमद् राजचंद्रजी ने लिखा है कि:—

''दिगम्बरों के तीव्र वचनों के कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है।''

उपरोक्त शास्त्रों में से श्री समयसार, और आत्मानुशासन गुजराती टीका सहित छपकर प्रगट हो चुके हैं तथा प्रवचनसार का गुजराती अनुवाद प्रगट होनेवाला है।

तत्त्वज्ञान के रसिक जीवों को इन शास्त्रों का तटस्थ भाव से अभ्यास करने की जरूरत है।

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक, चमत्कार अथवा व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है। वह तो सत्य का अखंड भंडार है, विश्व का धर्म है, अनुभव उसका आधार है, युक्तिवाद उसका आत्मा है। इस धर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता, वह पदार्थों के स्वरूप का प्रदर्शक है। त्रिकाल अबाधित सत्यरूप है, क्योंकि वस्तुएँ अनादि-अनंत हैं। इसलिये उनका स्वरूप प्रकाशक तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनंत है। ★

अध्यात्मवेत्ता श्री कानजीस्वामी

जीवन परिचय

लेखक - हिमतलाल जेठालाल शाह, B.Sc.

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी का शुभ जन्म विक्रम संवत् १९४६ की वैशाख शुक्ला द्वितीय-रविवार के दिन काठियावाड़ के उमराला गाँव में स्थानकवासी जैन संप्रदाय में हुआ था। उनकी माताजी का नाम उजमबाई और पिताजी का नाम श्री मोतीचंदजी भाई था। वे दशाश्रीमाली वणिक थे। बाल्यावस्था में उनके संबंध में किसी ज्योतिषी ने कहा कि यह कोई महापुरुष होंगे। बालपन से ही उनके मुख पर वैराग्य की सौम्यता और नेत्रों में बुद्धि एवं वीर्य का तेज दिखाई देता था।

उनने उमराला के स्कूल में ही विद्याभ्यास किया था। यद्यपि वे स्कूल में तथा पाठशाला में प्राय: प्रथम नंबर पर ही रहते थे, फिर भी स्कूल की व्यावहारिक शिक्षा से उनके चित्त को सन्तोष नहीं था और उनके भीतर ही भीतर मन में यह विचार उठा करता कि 'मैं जिनकी शोध

में हूँ, वह यह नहीं है।' कभी-कभी यह दु:ख अत्यन्त तीव्र बन जाता था। वे माता से अलग हुये बालक की तरह एक बार सत् के वियोग में खूब रोये थे।

उनके माता-पिता का बाल्यावस्था में वियोग हो गया था, इसलिए वे आजीविका के लिये अपने बड़े भाईश्री खुशालभाई के साथ पालेज गाँव में दुकान करने लगे थे। धीरे-धीरे दुकान बहुत अच्छी चलने लगी, व्यापार में उनका व्यवहार बिल्कुल प्रामाणिक था। एक बार उन्हें (सोलह वर्ष की उम्र में) कारणवशात् बड़ौदा की अदालत में जाना पड़ा था, वहाँ पर उन्होंने अधिकारी के सामने यथार्थ घटना स्पष्टता से बतला दी थी। उनके मुख पर प्रगट सच्चाई, निर्दोषता और निडरता की छाप अधिकारी पर पड़ी और उसे विश्वास हो गया कि उनके द्वारा कही गयी सभी बातें सत्य हैं। बस, इसी विश्वास पर बिना किसी आधार के अधिकारी ने उनकी सारी बातों को मान्य रखा।

पालेज में वे कभी-कभी नाटक देखने को जाते थे किन्तु आश्चर्य हैं कि नाटकी शृंगारित बातों का असर न होकर उन महात्मा के मन पर वैराग्य प्रेरक दृश्यों का ही गहरा असर होता था और वह बहुत दिनों तक बना रहता था। कभी-कभी तो नाटक देखकर आने के बाद सारी रात वैराग्य की धुन लगी रहती। एक बार नाटक देखने के बाद उनने एक कविता बनायी, जिसकी प्रथम पंक्ति है — शिवरमणी रमनार तू तू ही देवनो देव। **सांसारिक रस के प्रबल निमित्तों को भी महात्मा जन वैराग्य का निमित्त बना लेते हैं।**

इस प्रकार पालेज की दुकान में व्यापार का कामकाज करते हुए भी उन महात्मा का मन व्यापारमय अथवा संसारमय नहीं हुआ था। उनका अंतर व्यापार तो भिन्न ही था। उनके भीतर का स्वाभाविक रुख हमेशा धर्म और सत्य की शोध की ओर ही रहता था। जब कोई साधु उपाश्रय में आता था तो वे साधु की सेवा तथा उनके साथ धार्मिक वार्तालाप करने के लिये तत्काल दौड़े चले जाते थे और अधिकांश समय उपाश्रय में ही लगाते थे। उनका धार्मिक अभ्यास भी चल रहा था। उनके धार्मिक जीवन और सरल अन्त:करण को देखकर उनके संबंधी उन्हें 'भगत' के नाम से पुकारते थे।

उनने अपने बड़े भाईश्री खुशालभाई को स्पष्ट सूचित कर दिया था कि 'मेरी सगाई मत करना, मेरे भाव दीक्षा लेने के हैं।' खुशालभाई ने बहुत समझाया कि — 'भाई! तू यदि विवाह नहीं करना चाहता तो तेरी इच्छा; किन्तु तू दीक्षा न ले। यदि तुझे दुकान पर नहीं बैठना हो तो भले सही, तू सारा दिन धार्मिक ग्रन्थों की पढ़ाई और साधुओं के संसर्ग में लगाया कर किन्तु दीक्षा की बात न कर।' यों बहुत समझाया किन्तु उन महात्मा के वैरागी चित्त को संसार में रहना पसंद नहीं

हुआ। दीक्षा लेने से पूर्व वे कई महीनों तक आत्मार्थी गुरु की शोध में काठियावाड़, गुजरात और मारवाड़ के अनेक गाँवों में फिरते रहे, अनेक साधुओं से मिले, किन्तु कहीं भी उनका मन स्थिर नहीं हुआ। **सच बात तो यह थी कि पूर्वभव की अपूर्ण रही हुई साधना को लेकर अवतरित वे महात्मा स्वयं ही गुरु होने के योग्य थे।** अन्त में बोटाद सम्प्रदाय के श्री हीराचंदजी महाराज के हाथ से दीक्षा लेना निश्चित हुआ और संवत् १९७० की मार्गशीर्ष शुक्ला ९ रविवार के दिन उमराला गाँव में बहुत बड़ी धूमधाम के साथ उनका दीक्षा महोत्सव हुआ।

दीक्षा लेकर तत्काल ही महाराजश्री ने श्वेताम्बर शास्त्रों का खूब अभ्यास किया, यहाँ तक कि आहारादि शारीरिक आवश्यकताओं में जो समय व्यतीत होता था, वह भी उन्हें खटकता था। वे प्राय: सारे दिन उपाश्रय में किसी एकान्त स्थान में स्वाध्याय करते हुये दिखायी देते थे। ४ वर्ष में लगभग सभी श्वेताम्बर शास्त्रों को विचारपूर्वक पढ़ डाला। वे सम्प्रदाय की विधि के अनुसार चारित्र भी कठोरता से पालन करते थे। अल्प समय में ही उनकी आत्मार्थिता, ज्ञान पिपासा और उग्र चारित्र की सुवास काठियावाड़ में सर्वत्र फैल गयी। महाराजश्री पर उनके गुरु की बहुत कृपा थी। महाराज प्रारम्भ से ही तीव्र पुरुषार्थी थे। कभी-कभी उन्हें किसी भवितव्यतावादी व्यक्ति के द्वारा यह सुनने में आता कि 'चाहे जितना कठोर चारित्र पालन किया जाय किन्तु केवली भगवान ने जो अनंतभव देखे होंगे तो उसमें से एक भी भव कम नहीं होगा' महाराज ऐसे पुरुषार्थ हीनता के मिथ्या वचनों को सहन नहीं कर सकते थे और कह उठते थे कि '**जो पुरुषार्थी है, उनके अनन्त भवों को केवली भगवान ने देखा ही नहीं है। जिसे पुरुषार्थ भासित हुआ है, उसके अनन्त भव हो ही नहीं सकते। पुरुषार्थी के भवस्थिति आदि कोई बाधक नहीं है, उसे पाँचों समवाय आ मिलते हैं।**' '**पुरुषार्थ पुरुषार्थ और पुरुषार्थ**' यह महाराजश्री का **जीवन मंत्र है।**

महाराजश्री ने दीक्षा के बाद श्वेताम्बर शास्त्रों का खूब मनन पूर्वक अभ्यास किया था। उनने भगवतीसूत्र की सत्रह बार स्वाध्याय की थी। प्रत्येक कार्य करते हुये उनका लक्ष्य सत्य शोधन की ओर ही रहता था।

संवत् १९७८ में वीर शासन के उद्धार का एक पवित्र प्रसंग बन चुका है, जो अनेक मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक है। विधि के किसी धन्य पल में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य विरचित श्री समयसार नामक महान ग्रन्थ महाराज श्री के हाथों में आया। समयसार के पढ़ते ही उनके हर्ष का पार न रहा। वे जिसकी शोध में थे, वह उन्हें मिल गया। महाराज श्री के अन्तर नयनों ने समयसारजी में अमृत के सरोवरों का छलकता हुआ देखा। प्रत्येक गाथा को पढ़ते हुये

महाराज श्री को ऐसा लगा जैसा वे अमृत घूंट पीते जा रहे हैं। ग्रन्थाधिराज श्री समयसारजी ने महाराज पर अपूर्व, अनुपम, अलौकिक उपकार किया और उनके आत्मानन्द का पार न रहा। महाराजश्री के अन्तर जीवन में परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली हुई परिणति ने अपने पर को देखा। उपयोग रूपी झरने का प्रवाह अमृतमय हो गया। जिनेश्वरदेव के सुनन्दन गुरुदेव की ज्ञानकला अब अपूर्व रीति से खिलने लगी।

संवत् १९९१ तक महाराजश्री ने स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर, बोटाद, बढ़वाण, अमरेली, पोरबंदर, जामनगर, राजकोट इत्यादि ग्रामों में चातुर्मास किया और शेषकाल में सैकड़ों छोटे-बड़े ग्रामों को पवित्र किया। काठियावाड़ के हजारों आदमियों को महाराजश्री के उपदेश के प्रति बहुमान प्रगट हुआ। अन्तरात्म-धर्म का उद्योत हुआ। महाराज का जहाँ चातुर्मास होता था, वहाँ दूर-दूर के गाँवों से हजारों स्त्री-पुरुष दर्शन के लिये आते थे और उनकी अमृतवाणी का लाभ लिया करते थे। क्योंकि महाराजश्री श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे, इसलिए वे व्याख्यान में श्वेताम्बर शास्त्रों को ही पढ़ा करते थे (अन्तिम कुछ वर्षों से वे सभा में समयसारादि ग्रन्थों को भी सुनाया करते थे) परन्तु वे उन शास्त्रों में से अन्य व्याख्याताओं की अपेक्षा कुछ अन्य ही प्रकार के सिद्धान्तों को निकालकर और विवादस्थ विषयों को छोड़कर प्रवचन किया करते थे। वे किसी भी ग्रन्थ के किसी भी अधिकार को पढ़ते थे किन्तु उनमें कही गयी बातों को अन्तर के भावों के साथ एकमेक करके उसमें से ऐसे अलौकिक आध्यात्मिक न्याय को निकालकर प्रवचन करते थे कि अन्यत्र कहीं भी सुनने को नहीं मिलता था।

'जिस भाव से तीर्थंकर कर्म का बंध होता है, वह भाव भी हेय है... शरीर के रोम-रोम में तीव्र रोग का होना दु:ख नहीं है, दु:ख का स्वरूप ही भिन्न है.... व्याख्यान सुनकर बहुत से जीव बूझें तो मुझे बहुत लाभ हो, यों माननेवाला व्याख्याता मिथ्यादृष्टि है.... इस दु:ख में यदि समता नहीं रखूँगा तो कर्म बंध होगा, इस भाव से समता रखना, सो मोक्षमार्ग नहीं है.... पंच महाव्रत भी मात्र पुण्यबंध के कारण हैं।' इस प्रकार की हजारों अपूर्व न्याय बातें महाराज श्री अपने व्याख्यान में अत्यन्त स्पष्ट रीति से लोगों को समझाते थे। प्रत्येक व्याख्यान में महाराज सम्यग्दर्शन पर अधिक भार देते थे। वे अनेक बार कहते थे कि — 'शरीर की चमड़ी को उतारकर नमक छिड़कनेवालों पर भी क्रोध नहीं किया—ऐसे व्यवहारचारित्र को इस जीव ने अनन्त बार पालन किया है किन्तु एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया। लाखों जीवों की हिंसा के पाप से भी मिथ्यादर्शन का पाप अनंतगुणा है। सम्यक्त्व सरल नहीं है। लाखों करोड़ों में से किसी विरले जीव के ही वह होता है। सम्यक्त्वी जीव अपना निर्णय आप ही कर सकता

है। सम्यक्त्वी जीव समस्त विश्व के भावों को पी चुका होता है। आजकल तो सब अपने-अपने घर का सम्यक्त्व मान बैठे हैं। सम्यक्त्वी को मोक्ष के अनन्त सुख की वानगी प्राप्त हो चुकी होती है। सम्यक्त्वी का वह सुख, मोक्ष सुख का अनन्तवाँ भाग होने पर भी अनन्त है।'

महाराज श्री अनेक प्रकार से, अनेक तर्कों से, अनेक प्रमाणों से तथा अनेक दृष्टियों से लोगों के मन पर सम्यक्त्व की अद्‌भुत महिमा को जमा देते थे। महाराजश्री की जैनधर्म की अनन्य श्रद्धा, समस्त विश्व भले न माने फिर भी अपनी मान्यता में स्वयं अकेले जमे रहने की उनकी अद्‌भुत दृढ़ता और अनुभव के बलपूर्वक निकलती हुई उनकी न्यायपूर्ण वाणी घोर नास्तिकों को भी विचार में डाल देती थी और कितनों को ही आस्तिक बना देती थी। इस केशरी सिंह का सिंहनाद पात्र जीवों के हृदयतल को स्पर्श करके उनके आत्मिक वीर्य को प्रगट कर देता था। सत्य के बल से समस्त विश्व के अभिप्रायों के विरुद्ध लड़नेवाले इस अध्यात्मयोगी की गर्जना को जिनने सुना होगा, उनके कान में आज भी वह गर्जना गूंज रही होगी।

ऐसी अद्‌भुत प्रभावशाली और कल्याणकारिणी वाणी अनेक जीवों को आकर्षित करे, वह स्वाभाविक है। साधारणत: उपाश्रय में कामकाज से निवृत्त वृद्ध आदमी ही मुख्यत: आते हैं किन्तु जहाँ कानजी महाराज पधारते थे, वहाँ युवक, सुशिक्षित, वकील, डाक्टर और शास्त्र के अभ्यासियों से उपाश्रय भर जाता था। बड़े नगरों में महाराजश्री का व्याख्यान प्राय: उपाश्रय में नहीं किन्तु किसी विशाल स्थान पर रखना पड़ता था। दिनोंदिन उनकी ख्याति बढ़ती गयी। व्याख्यान में हजारों आदमी आते थे, आसपास के गाँवों से भी आदमी आते थे। आगे जगह पाने की इच्छा से सैकड़ों आदमी घण्टों पहले से आ बैठते थे। कई जिज्ञासु व्याख्यानों की संक्षिप्त नोंद कर लेते थे। जिस गाँव में महाराजश्री पधारते थे, उस गाँव में श्रावकों के प्रत्येक घर में धर्म की चर्चा होने लगती थी और सर्वत्र धर्म का ही वातावरण जम जाता था। गली और मुहल्लों में श्रावक समुदाय धर्म की बातें करते दिखायी देते थे। प्रात:काल, दोपहर में और शाम को उपाश्रय के मार्ग पर बहुत बड़े जन समुदाय का आवागमन दिखायी देता था। उपाश्रय में लगभग सारे दिन तत्त्वज्ञान चर्चा की शीतल लहरें उठा करती थीं। कितने ही मुमुक्षुओं का तो व्यापार रोजगार में चित्त ही नहीं लगता था और वे महाराजश्री की शीतल छाया में अधिकांश समय व्यतीत करते थे। इस प्रकार गाँव-गाँव में अनेक सुपात्र जीवों के हृदय में महाराजश्री ने सत् की रुचि के बीज बो दिये। महाराज श्री के चले जाने पर भी वे मुमुक्षु, महाराजश्री के उपदेश पर विचार करते तथा भव-भ्रमण कैसे दूर हो और सम्यक्त्व क्यों कर प्राप्त हो, इसके लिये झूरते रहते थे। कभी-कभी वे एकत्रित होकर तत्त्वचर्चा करते थे और महाराजश्री के द्वारा कही गयी पुस्तकों का पठन, पाठन और मनन करते थे।

स्थानकवासी साधुओं में महाराजश्री का स्थान अपूर्व था। यह जानने के लिये साधु और साध्वियाँ उत्सुक रहते थे कि 'कानजी महाराज क्या कहते हैं।' कितने ही साधु-साध्वी महाराज श्री के व्याख्यानों की नोंद (नोट) मुमुक्षु भाई-बहिनों से प्राप्त करके पढ़ा करते थे।

महाराजश्री ने बहुत वर्षों तक स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर आत्म-धर्म का खूब प्रचार किया था और साधु और श्रावकों को विचार और चर्चा में लगा दिया था।

महाराजश्री संवत् १९९१ तक स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहे किन्तु अन्तरंग आत्मा में वास्तविक वस्तु स्वभाव और वास्तविक निर्ग्रन्थ मार्ग बहुत समय से सत्य लग रहा था, इसलिए योग्य समय में काठियावाड़ के सोनगढ़ नामक छोटे से गाँव में वहाँ के एक गृहस्थ के खाली मकान में संवत १९९१ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार के दिन परिवर्तन किया-स्थानकवासी सम्प्रदाय का चिह्न जो मुँह पट्टी है, उसका त्याग किया।

सम्प्रदाय का त्याग करनेवालों को कैसी-कैसी महा विपत्तियों का सामना करना होता है तथा बाल जीवों के द्वारा अज्ञान के कारण उन पर कैसी अघटित निन्दाओं की झड़ी लगती है, इसका ख्याल उन्हें अच्छी तरह से था; किन्तु उन निडर और निस्पृह महात्मा ने इसकी कोई चिन्ता नहीं की। सम्प्रदाय के हजारों श्रावकों के हृदय में महाराज श्री अग्रस्थान में विराजमान थे, इसलिए बहुत से श्रावकों ने महाराजश्री से परिवर्तन न करने के लिये अनेक प्रकार प्रेमभाव से प्रार्थना की; किन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग प्रणीत यथार्थ सन्मार्ग के प्रति भक्ति उछल रही थी, वह महात्मा प्रेम भरी प्रार्थना का असर हृदय में लेकर राग में खिंच कर सत् को गौण कैसे होने देता। सत् के प्रति जो परम भक्ति थी, उसमें सब प्रकार की प्रतिकूलता का भय और अनुकूलता का राग अत्यन्त गौण हो गया। जगत् से बिलकुल निरपेक्ष भाव से हजारों की मानव मेदिनी में गर्जना करता हुआ सिंह सत् की प्राप्ति के लिये सोनगढ़ के एकान्त स्थान में जा बैठा।

महाराजश्री ने जहाँ परिवर्तन किया था, वह मकान गाँव से अलग होने के कारण बहुत शान्त था। दूर से आनेवाले आदमी के पैर की आहट साफ सुनाई देती थी। कुछ महीनों तक ऐसे निर्जन स्थान में मात्र (महाराजश्री के परम भक्त) जीवनलालजी महाराज के साथ रहे थे और जो दर्शन के लिये दो-चार मुमुक्षु आते थे, उनके साथ स्वाध्याय, ज्ञान-ध्यान आदि में लीन हुए महाराजश्री को देखकर हजारों की मानव मेदिनी स्मृतिगोचर होती थी और अपने महान् वैभव को सर्प की केंचुली के समान छोड़नेवाले महात्मा की सिंहवृत्ति, निरीहता और निरभिमानता के आगे हृदय नम जाता था।

❖ ❖ ❖

जो स्थानकवासी सम्प्रदाय कानजीस्वामी के नाम से गौरव का अनुभव करता था, उस सम्प्रदाय में महाराजश्री के परिवर्तन से भारी खलबली मच जाना स्वाभाविक ही था; महाराज श्री १९९१ तक काठियावाड़ में लगभग प्रत्येक स्थानकवासी के हृदय में विराजमान हो चुके थे। समस्त काठियावाड़ महाराजश्री के पीछे पागल बना हुआ था, इसलिए यह सोचकर कि 'महाराजश्री ने जो कुछ किया होगा, सो समझकर किया होगा' धीरे-धीरे बहुत से लोग तटस्थ हो गये। कितने ही लोग सोनगढ़ में क्या हो रहा है—यह देखने के लिये आते थे किन्तु महाराजश्री के परम पवित्र जीवन और उनके अपूर्व उपदेशों को सुनकर वे सब मंत्रमुग्ध से रह जाते थे। टूटा हुआ भक्ति का प्रवाह फिर से बहने लगता। कोई-कोई पश्चात्ताप करते हुए कहते कि 'महाराज आपके सम्बन्ध में बिल्कुल कल्पित बातें सुनकर हमने आपकी घोर अविनय की है और बहुत से कर्मों का बंध किया है, हमें क्षमा कीजिये।' इस प्रकार महाराजश्री के पवित्र उज्ज्वल जीवन तथा आध्यात्मिक उपदेश के सम्बन्ध में लोगों में बात फैलती गयी, त्यों-त्यों अधिक से अधिक लोगों में महाराजश्री के प्रति मध्यस्थ भाव होता गया और बहुत से लोगों की साम्प्रदायिक मोह के कारण दबी हुई भक्ति पुनः प्रगट होने लगी। मुमुक्षु और बुद्धिशाली वर्ग की महाराज श्री के प्रति पूर्ववत् ही परम भक्ति बनी रही। अनेक मुमुक्षुओं के जीवनाधार कानजीस्वामी सोनगढ़ में जा कर रहे तो उधर मुमुक्षुओं का मन भी सोनगढ़ की ओर आकर्षित हुआ। धीरे-धीरे मुमुक्षुओं का प्रवाह सोनगढ़ की ओर बहने लगा। साम्प्रदायिक मोह अत्यन्त दुर्निवार होता है, फिर भी सत् के अर्थी जीवों की संख्या तीनों काल में अत्यन्त अल्प होने पर भी साम्प्रदायिक मोह तथा लौकिक भय को छोड़कर सोनगढ़ की ओर प्रतिदिन सत्संगार्थी लोगों की बाढ़ वेगपूर्वक बढ़ती ही गयी।

परिवर्तन करने के बाद पूज्य महाराज श्री का मुख्य निवास सोनगढ़ में ही है। महाराज श्री की उपस्थिति के कारण सोनगढ़ एक तीर्थधाम जैसा बन गया है। बाहर गाँव से अनेक मुमुक्षु भाई-बहिन महाराज श्री के उपदेश का लाभ लेने के लिये सोनगढ़ आते हैं। दूर दूर से अनेक दिगंबर जैन गृहस्थ और त्यागी ब्रह्मचारी भी आते हैं। बाहर गाँव के लोगों के ठहरने और भोजन आदि के लिये वहाँ जैन अतिथिगृह है। कितने ही भाई-बहिन वहाँ पर अपना घर बनाकर रह रहे हैं। कितने ही सत्संगार्थी वहाँ कुछ महिनों के लिये आकर रहते हैं। वर्तमान में वहाँ बाहर गाँव के मुमुक्षुओं के लगभग ८५ घर हैं।

महाराज श्री ने जिस मकान में परिवर्तन किया था, वह मकान छोटा था, इसलिये जब बहुत से लोग आ जाते थे, तब व्याख्यान के लिये बड़ी असुविधा हो जाती थी। पर्यूषण पर्व में तो अन्यत्र ही व्याख्यान के लिये जाना पड़ता था। इस प्रकार उस मकान में सबका समावेश न

हो सकने के कारण भक्तों ने संवत् १९९४ में एक मकान बनवाया और उसका नाम श्री जैन स्वाध्याय मंदिर रखा। महाराज श्री वर्तमान में वहाँ रहते हैं, उनके साथ जीवनलालजी महाराज के अतिरिक्त अन्य दो भक्तिवान् महाराज भी सत्संग के लिये रहते हैं। वहाँ पर लगभग सारे ही दिन स्वाध्याय ही हुआ करती है। सबेरे और दोपहर को धर्मोपदेश होता है, रात को धर्म चर्चा होती है। धर्मोपदेश में तथा उसके अतिरिक्त पठन पाठन और स्वाध्याय में वहाँ पर भगवान कुंदकुंदाचार्य के शास्त्र, तत्त्वार्थसार, गोम्मटसार, षट्खंडागम, पंचाध्यायी, पद्मनंदीपंचविंशतिका, द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्ग-प्रकाशक, श्रीमद्राजचंद्र इत्यादि इत्यादि ग्रंथ पढ़े जाते हैं। वहाँ आनेवाले मुमुक्षुओं का सारा दिन धार्मिक आनंद में पूर्ण हो जाता है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी को समयसारजी के प्रति अतिशय भक्ति है, इसलिये जिस दिन स्वाध्याय मंदिर का उद्घाटन हुआ उसी दिन अर्थात् संवत् १९९४ की ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी रविवार के दिन स्वावध्याय मंदिर में श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा की गई थी। श्री समयसारजी प्रतिष्ठा महोत्सव पर बाहर से करीब ७०० स्त्री-पुरुष आये थे। महाराज श्री समयसारजी को उत्तमोत्तम शास्त्र मानते हैं। समयसारजी की बात करते हुये भी उन्हें अत्यंत उल्लास हो आता है। समयसारजी की प्रत्येक गाथा मोक्षदायिनी है, इस प्रकार वे कहा करते हैं। भगवान कुंदकुंदाचार्य के प्रायः सभी ग्रंथों पर उन्हें अत्यंत प्रेम है। भगवान कुंदकुंदाचार्य देव का हम पर बहुत बड़ा उपकार है और हम उनके दासानुदास हैं, इस प्रकार वे बारंबार भक्ति सिंचित हृदय से कहा करते हैं। श्री भगवन् कुंदकुंदाचार्य महाविदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समोशरण में गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे, इस संबंध में महाराजश्री को किंचितमात्र भी शंका नहीं है। वे अनेक बार पुकार पुकार कर कहते हैं कि कल्पना मत करना, इनकार मत करना, यह बात ऐसी ही है। मानों तो भी ऐसी ही है और न मानों तो भी ऐसी ही हैं। यह यथातथ्य बात है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाण सिद्ध है। श्री सीमंधर प्रभु के प्रति महाराज श्री को अपारभक्ति है। किसी-किसी समय सीमंधर स्वामी के विरह में परम

आत्मा

भगवान आत्मा स्वयं अपने आप सिद्ध और परमार्थरूप ज्ञानस्वभावी है। मैं स्वयंसिद्ध हूँ, मैं अपने आपसे ही सिद्ध हूँ। मुझे सिद्ध बनाने में मेरी साबिती बताने में कोई शरीर, मन, वाणी आदिक पर की आवश्यकता नहीं है। परमार्थरूप भगवान आत्मा स्वतःसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये-निश्चित करने के लिये पुण्य के-राग के अथवा परसंयोग के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती।

भक्तिवंत महाराज श्री की आंखों में से आंसुओं की धारा बह निकलती है।

वीतराग के परम भक्त महाराज श्री कहते हैं कि 'जैनधर्म कोई सीमित मर्यादा नहीं है, यह तो विश्वधर्म है। जैनधर्म का मेल अन्य किसी धर्म के साथ है ही नहीं। जैनधर्म का और अन्य धर्मों का समन्वय करना रेशम और टाट का समन्वय करने के प्रयत्न के समान वृथा है। दिगम्बर जैनधर्म ही वास्तविक धर्म है और अंतरंग तथा बहिरंग दिगम्बरत्व के बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं पा सकता, यह उनकी दृढ़ मान्यता है। महाराज श्री के द्वारा श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक इत्यादि अनेक दिगम्बर ग्रंथों का काठियावाड़ में खूब प्रचार हो रहा है। सोनगढ़ के प्रकाशन विभाग से समयसार गुजराती टीका की दो हजार प्रतियां छपाई गई और वे तत्काल ही समाप्त हो गई। इसके अतिरिक्त समयसार गुटका, समयसार हरिगीत, तथा अनुभव प्रकाश इत्यादि अनेक पुस्तकें वहाँ छपाई गई हैं तथा काठियावाड़ में प्रसारित की गई हैं। इसके अतिरिक्त आत्मसिद्धि शास्त्र की हजारों प्रतियाँ वहाँ से प्रकाशित करवाकर प्रचारित की गई हैं।

गुजरात-काठियावाड़ के अध्यात्म-प्रेमी मुमुक्षुओं को गुजराती भाषा में आध्यात्मिक साहित्य सुलभ हो गया है। काठियावाड़ के हजारों मुमुक्षु उनका अभ्यास कर रहे हैं। कई ग्रामों में पाँच-दस-पंद्रह मुमुक्षु एकत्रित होकर गुरुदेव से ग्रहण किये गये रहस्य के अनुसार समयसारादि उत्तमोत्तम शास्त्रों का नियमित पठन पाठन और मनन करते हैं। इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव की कृपा से परम पवित्र श्रुतामृत के झरने काठियावाड़ के गाँव-गाँव में बहने लगे हैं। अनेक सुपात्र जीव इस जीवनोदक का पान करके कृतार्थ होते हैं। परम पूज्य महाराजश्री समझण पर मुख्य भार देते हैं। वे बारम्बार कहते हैं कि 'तुम समझो; समझे बिना सब व्यर्थ है।' कोई आत्मज्ञानी अथवा अज्ञानी एक परमाणु मात्र को हिलाने की शक्ति नहीं रखता तो फिर देहादि की क्रिया आत्मा के हाथ में कहाँ से हो सकती है।

ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल जितना अंतर है और वह यह है कि 'अज्ञानी परद्रव्य का तथा राग-द्वेष का कर्ता होता है और ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उसका कर्ता नहीं होता। उस कर्तृत्व को छोड़ने का महा पुरुषार्थ प्रत्येक जीव को करना है। वह कर्तृत्व बुद्धि, ज्ञान के बिना नहीं दूट सकती, इसलिए तुम ज्ञान संपादन करो।' यह महाराज श्री के उपदेश का प्रधान सुर है। जब कोई श्रोता कहता है कि 'महाराज आप तो मेट्रिक की और एम.ए. की बात करते हैं और हम तो अभी पहली ही कक्षा में हैं, हमें अभी वर्णमाला की ही बात सुनाइये।' तब गुरुदेव कहते हैं कि यह जैनधर्म की वर्णमाला अथवा इकाई ही है, उसको समझना, सो ही उसका प्रारम्भ है। मेट्रिक की अथवा एम.ए. की अर्थात् निर्ग्रंथ दशा की अथवा वीतरागता की

बातें तो बहुत दूर हैं। एक भव, दो भव, पाँच भव अथवा अनन्त भव में इसे समझने के बाद ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होगा।'

पूज्य महाराज श्री के ज्ञान पर सम्यक्पने की मुहर तो बहुत समय से लग चुकी थी किन्तु वह सम्यक्ज्ञान सोनगढ़ के विशेष निवृत्ति वाले स्थल में अद्भुत सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ। सोनगढ़ में नई-नई ज्ञान शैली खूब विकसित हुई। जैसे अमृत कलश में अमृत घुलता रहता है, उसी प्रकार गुरुदेव के परम पवित्र अमृत कलशस्वरूप आत्मा में तीर्थंकर देव के वचनामृत खूब घुलते रहे, घुटते रहे। वह घुटा हुआ अमृत कृपालु गुरुदेव अनेक मुमुक्षुओं को देते हैं और उन्हें कृतकृत्य कर देते हैं।

समयसार, प्रवचनसार इत्यादि ग्रंथों पर प्रवचन करते हुये गुरुदेव के प्रत्येक शब्द से इतनी गहनता, सूक्ष्मता और नवीनता निकलती है कि वह श्रोताजनों के उपयोग को भी सूक्ष्म बना देती है और विद्वानों को आश्चर्यमुग्ध बना देती है। जिस अनंत आनंदमय चैतन्यघन दशा को प्राप्त करके सर्वज्ञ तीर्थंकर देव ने शास्त्रों की प्ररूपणा की है उस परम पवित्र दशा का सुधास्यंदी स्वानुभूति स्वरूप पवित्र अंश अपनी आत्मा में प्रगट करके सद्गुरुदेव विकसित ज्ञानपर्याय के द्वारा शास्त्र में निहित गहन रहस्यों को खोलकर मुमुक्षुओं को समझाकर अपार उपकार कर रहे हैं। सैकड़ों शास्त्रों के अभ्यासी विद्वान् भी गुरुदेव की वाणी को सुनकर उल्लसित होकर कहते हैं कि 'गुरुदेव! आप के वचनामृत अपूर्व हैं, उन्हें सुनते हुये हम तृप्त ही नहीं होते। आप जो बात समझाते हैं, उसमें हमें नई-नई बातें जानने को मिलती हैं। नव तत्त्व का स्वरूप अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य का स्वरूप, स्याद्वाद का स्वरूप या सम्यक्त्व का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार का स्वरूप या व्रत, नियम, तप का स्वरूप, उपादान-निमित्त का स्वरूप या साध्य-साधन का स्वरूप, द्रव्यानुयोग का स्वरूप या चरणानुयोग का स्वरूप, गुणस्थान का स्वरूप या बाधक-साधक भाव का स्वरूप, मुनिदशा

कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करो।

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं। इन्हीं के आधार पर तो धर्म है। यदि इनमें शिथिलता रही तो अन्य धर्म कैसे सम्भव है? अधिक क्या कहें! सभी प्रकार से कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग कर देना ही उचित है। कुदेवादिका त्याग नहीं करने से मिथ्यात्व भाव अधिकाधिक पुष्ट होता है। और फिर इस काल में यहाँ पर उसकी प्रवृत्ति विशेष दिखाई देती है; इसलिये उसका निषेध रूप निरूपण किया है। इसलिये स्वरूप को जानकर मिथ्याभाव को छोड़कर अपना कल्याण करो।

का स्वरूप या केवलज्ञान का स्वरूप—इत्यादि जिस किसी भी विषय के स्वरूप को आप के मुख से हम सुनते हैं, उसमें हमें अपूर्व भाव दृष्टिगोचर होते हैं। हमने शास्त्रों में से जो अर्थ निकाले थे, वह बिल्कुल ढीले, जड़ चेतन से मिश्रित, शुभ को शुद्ध में डाल देनेवाले, संसार भाव के पोषक, विपरीत और न्याय विरुद्ध थे। आप के अनुभव मुद्रित अपूर्व अर्थ शुद्ध सुहागा जैसे-शुद्ध स्वर्ग जैसे जड़-चेतन को प्रथक् कर देने वाले, शुभ और शुद्ध का स्पष्ट विभाग कर देने वाले, मोक्ष भाव के ही पोषक, सम्यक् तथा न्याय युक्त हैं। आप के शब्द-शब्द में वीतराग देव का हृदय प्रगट होता है। हम वाक्य-वाक्य में वीतरागदेव की विराधना करते थे, हमारा एक वाक्य भी सत्य नहीं था, इस बात का हमें अब साक्षात्कार हुआ है कि शास्त्र में ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञानपर्याय में ज्ञान है। सद्गुरुदेव का जो माहात्म्य शास्त्रों में गाया है, वह हमें अब समझ में आया है। शास्त्रों का ताला खोलने की चाबी वीतरागदेव ने सद्गुरुदेव को सौंपी है। सद्गुरु का उपदेश प्राप्त किये बिना शास्त्रों की गुत्थी का सुलझना अत्यन्त कठिन है।'

परम कृपालु गुरुदेव का ज्ञान जैसा अगाध और गम्भीर है, वैसी ही उनकी व्याख्यान शैली चमत्कृति से भरी हुई है। महाराज श्री अपनी बात को ऐसी स्पष्टता से, विविधता से अनेक सादा उदाहरण देकर शास्त्रीय शब्दों का कम से कम प्रयोग करके समझाते हैं कि सामान्य मनुष्य को भी वह सरलता से समझ में आ जाती है। अत्यन्त गहन विषय को भी अत्यन्त सुलभ रीति से प्रतिपादन करने की गुरुदेव में विशिष्ट शक्ति है। महाराजश्री की व्याख्यान शैली कितनी रसमय है कि जैसे हिरण बांसुरी पर मुग्ध हो जाता है वैसे ही श्रोतागण मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। श्रोताओं को यह भी ध्यान नहीं रहता है कि उनका समय कहाँ और कब पूरा हो जाता है! महाराज श्री प्रवचन करते हुये अध्यात्म में ऐसे तन्मय हो जाते हैं, परमात्मदशा के प्रति उनके मुख पर ऐसी भक्ति दिखाई देती है कि श्रोताओं को

सर्वज्ञ ज्ञान ही चमक रहा है

कोई जीव पर को नहीं भोग सकता और कोई पर का वर्णन भी नहीं कर सकता। मात्र स्वयं पर का जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसका अपने ज्ञान का वर्णन कर सकता है। ज्ञानगुण के सिवाय किसी भी गुण का वर्णन नहीं हो सकता। सुख गुण का वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु जिस ज्ञान ने सुख गुण को निश्चित किया है, उस 'सुख गुण के ज्ञान का' वर्णन कर सकता है; इस प्रकार ज्ञान वास्तव में पर प्रकाशक नहीं है किन्तु स्व-पर्याय (ज्ञान की अवस्था) को प्रकाशित करता है। इस प्रकार सर्वत्र ज्ञान का ही चमत्कार है और ज्ञान ही आत्मा की विशिष्ठता है।

उनका असर हुये बिना नहीं रहता। अध्यात्म की जीवित मूर्ति गुरुदेव के शरीर के अणु-अणु से मानों अध्यात्म रस झरता है। इन अध्यात्म मूर्ति की मुख मुद्रा, नेत्र, वाणी और हृदय सब एकतार होकर अध्यात्म की बाढ़ ला देते हैं और मुमुक्षुओं के हृदय रस अध्यात्म रस में तरबोर हो जाते हैं।

गुरुदेव का व्याख्यान सुनना जीवन का धन्यभाग्य है। उनका व्याख्यान सुनने के बाद अन्य व्याख्याताओं के व्याख्यान में आनन्द नहीं रहता। उनका व्याख्यान सुनने वाले को इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'यह पुरुष कोई जुदी ही तरह का है, जगत से यह कुछ अलग ही कहता है, अपूर्व ही कहता है। इसके कथन से पीछे एक अद्‌भुत दृढ़ता का बल है। ऐसा व्याख्यान तो कभी कहीं नहीं सुना था।' महाराज श्री के व्याख्यान में से अनेक जीव अपनी अपनी पात्रता के अनुसार लाभ प्राप्त कर जाते हैं। किसी को सत् के प्रति रुचि उत्पन्न होती है, किसी-किसी के सत् समझ के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं और किन्हीं विरले जीवों की तो दशा ही बदल जाती है।

अहो! ऐसा अलौकिक अन्तर परिणमन-केवलज्ञान का अंश और ऐसा प्रबल प्रभावना उदय-तीर्थंकरत्व का अंश इन दोनों का सुयोग इस कलिकाल में देखकर रोमांच हो जाता है। मुमुक्षुओं का महा पुण्य अभी तप रहा है।

अहो, इन परम प्रभावक अध्यात्ममूर्ति की वाणी की बात तो दूर रही उनके दर्शन भी महा पुण्योदय से प्राप्त होते हैं। इन अध्यात्मयोगी के समीप संसार की आधि-व्याधि-उपाधि फटक नहीं सकती। संसार तप्त प्राणी वहाँ परम विश्रांति को पाते हैं और उन्हें यह प्रतिभासित होने लगता है कि संसार के दुःख मात्र कल्पना ही से बना लिये गये हैं। जो वृत्तियाँ महा प्रयत्न से भी नहीं दबती, वे गुरुदेव के सान्निध्य में बिना किसी प्रयत्न के शान्त हो जाती है, यह अनेक मुमुक्षुओं का अनुभव है। आत्मा का निवृत्तिमय स्वरूप, मोक्ष का सुख इत्यादि भावों की जो श्रद्धा अनेक तर्कों से नहीं होती, वह गुरुदेव के दर्शन मात्र से हो जाती है। गुरुदेव का ज्ञान और चारित्र मुमुक्षुओं पर महा कल्याणकारी असर करता है। वास्तव में काठियावाड़ के आंगन में शीतल छायावाला और वांछित फल देनेवाला कल्पवृक्ष फलित हुआ है, काठियावाड़ का यह महा भाग्योदय है।

अब सोनगढ़ में परिवर्तन करने के बाद महाराजश्री के जीवन वृत्तांत के साथ संबंध रखने वाले कुछ प्रसंग यहाँ दिये जाते हैं। सोनगढ़ से बारह मील की दूरी पर स्थित श्री शत्रुंजय क्षेत्र की यात्रा करने की महाराजश्री की भावना बहुत समय से थी, और वह संवत् १९९५ की माह कृष्णा १३ को पूर्ण हुई। लगभग २०० भक्तों के साथ महाराजश्री ने उस तीर्थराज की यात्रा अत्यंत भक्ति और उत्साह के साथ की।

राजकोट के श्रावकों के बहुत आग्रह से महाराजश्री सं. १९९५ में राजकोट पधारे। वहाँ

पर दस माह रहकर महाराजश्री ने समयसार, आत्मसिद्धि और पद्मनंदि पंचविंशतिका पर अपूर्व प्रवचन किये। गुरुदेव के बढ़े हुये ज्ञान से प्रसूत जड़-चेतन का भेद, निश्चय-व्यवहार की संधि तथा दूसरे अनेक अपूर्व न्यायों सुनकर राजकोट के हजारों नर-नारी पवित्र हुये और अनेक सुपात्र जीवों ने पात्रता के अनुसार आत्मलाभ प्राप्त किया। दस महीने तक आनन्दंकुंज में रात-दिन आध्यात्मिक आनंद का वातावरण बना रहा।

राजकोट से सोनगढ़ वापिस आते हुये महाराज श्री गिरिराज श्री गिरनार तीर्थ की यात्रा करने पधारे और उस पवित्र नेमगिरि पर लगभग ३०० भक्तों के साथ तीन दिन तक रहे। वहाँ पर समोशरण के मंदिर जी में तथा दिगम्बर जैन मंदिर जी में प्रवाहित भक्ति, सहस्त्राम वन में की गई स्तवन भक्ति की धुन और पांचमी टोंक पर पूज्य गुरुदेव के द्वारा गवाया गया अध्यात्म रस से परिपूर्ण पद (मैं एक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञानदर्शन मय अरे) तथा उससे उत्पन्न शांत आध्यात्मिक वातावरण इत्यादि के धन्यस्मरण जीवनभर भक्तों के स्मृति पट पर अंकित रहेंगे।

राजकोट जाते हुये और वहाँ से वापिस होते हुये मार्ग में आनेवाले अनेक गाँवों में महाराज श्री वीतराग प्रणीत सद्धर्म का डंका बजाते गये और अनेक सत्पात्रों के कर्णपटों को खोलते गये थे। प्रत्येक गाँव में गुरुदेव के प्रति लोगों की भक्ति का पूर दिखाई देता था। लाठी, अमरेली इत्यादि बड़े नगरों में अत्यंत भव्य स्वागत हुआ था। गुरुदेव के इस प्रभावना उदय को देखकर मन के समक्ष यह कल्पना चित्र उपस्थित हो जाता था कि जब तीर्थंकर भगवान विहार करते होंगे, तब उस धर्मकाल में धर्म का, भक्ति का और अध्यात्म का कैसा वातावरण फैल जाता होगा!

संवत् १९९६ के वैशाख में गुरुदेव पुनः सोनगढ़ पधारे।

उसके बाद तत्काल ही सेठ कालीदास राघवजी जसाणी के भक्त सुपुत्रों ने श्री स्वाध्याय मंदिर के पास श्री सीमंधर भगवान का जिनमंदिर बनवाना प्रारंभ किया। उसमें श्री सीमंधर भगवान की अत्यंत भावपूर्ण मनोज्ञ प्रतिमा थी तथा उनके अतिरिक्त श्री शांतिनाथ आदि भगवंतों की भाव वाही प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा पंचकल्याणक विधि पूर्वक संवत् १९९७ की फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के मंगल दिन हुई थी। इस प्रतिष्ठा विधि में बाहर के करीब १५०० आदमियों ने भाग लिया था। प्रतिष्ठा के आठों दिन पूज्य गुरुदेव के मुख से भक्तिरस से परिपूर्ण अलौकिक वाणी निकलती रही थी।

लोगों को भी बहुत उत्साह था। प्रतिष्ठा से कुछ दिन पूर्व श्री सीमंधर भगवान के प्रथम दर्शन करके पूज्य गुरुदेव की आँखों में से आंसू बह निकले थे। जब मन्दिरजी में सीमंधर भगवान सर्व प्रथम पधारे, तब गुरुदेव के भक्ति रस का मानों नशा चढ़ गया था और उनका समस्त शरीर

भक्ति रस का मूर्तस्वरूप जैसा शांत और निःश्रेष्ठ भासित होने लगा था। गुरुदेव ने साष्टांग प्रणाम किया और भक्ति रस में अत्यंत एकाग्र होने के कारण दो-तीन मिनिट शरीर यों ही निःश्रेष्ठ पड़ा रहा। भक्ति का वह अद्‌भुत दृश्य पास में खड़े हुए मुमुक्षुओं को असह्य सा हो गया। उनकी आँखों में आंसू और चित्त में भक्ति प्रवाहित हो उठी। गुरुदेव ने अपने पवित्र हाथों से प्रतिष्ठा भी भक्तिभाव में मानों अपने शरीर का ध्यान भूल कर अपूर्व भाव से की थी।

इस जिन मंदिर में दोपहर के व्याख्यान के बाद प्रतिदिन करीब पौने घंटे तक भक्ति होती है। भक्ति में पूज्य गुरुदेव भी उपस्थित रहते हैं। दोपहर को प्रवचन सुनकर आत्मा के सूक्ष्म स्वरूप के प्रणेता वीतराग भगवान का माहात्म्य हृदय में स्फुरित हो जाता है, इसलिये प्रवचन में से उठकर तत्काल ही जिनमंदिर में भक्ति करने से पात्र जीवों के वीतराग देव के प्रति अद्‌भुत भाव उल्लसित होते हैं। इस प्रकार जिनमंदिर ज्ञान और भक्ति के सुंदर सम्मिश्रण का निमित्त बन गया है।

श्री जिनमंदिर के निर्माण के बाद एक वर्ष में ही कुछ मुमुक्षुओं के द्वारा जिनमंदिर के पास ही श्री समवसरण मंदिर बनवा दिया गया। उसमें श्री सीमंधर भगवान की अत्यन्त भावपूर्ण चतुर्मुख प्रतिमाजी विराजमान हैं। वहाँ सुंदर आठभूमि, कोट, (मुनि, आर्यिका, देव, मनुष्य और तिर्यंचों की सभाओं से युक्त) श्री मंडप, तीन पीठिका, कमल, चामर, छत्र, अशोक वृक्ष, विमान इत्यादि की शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अति आकर्षक रचना है। वही पर मुनियों की सभा में श्री सीमंधर भगवान के समक्ष अत्यंत भावपूर्वक हाथ जोड़कर खड़े हुये श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य की अत्यंत सौम्य मनोज्ञ प्रतिमाजी हैं।

प्रतिष्ठा महोत्सव सं. १९९८ की ज्येष्ठ कृष्णा ६ के मांगलिक दिन हुआ था। उस प्रसंग पर बाहर से लगभग २००० आदमी आये थे। श्री समवशरण के दर्शन करते समय वह प्रसंग मुमुक्षुओं की आंखों के समक्ष स्थित हो जाता है, जब श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य, सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समवशरण में गये थे और उससे संबद्ध अनेक पवित्रभाव हृदय में स्फुरित होने लगते हैं जिससे मुमुक्षु का हृदय भक्ति और उल्लास से उछलने लगता है। श्री समोशरण मंदिर के स्थापित होने से मुमुक्षुओं को अपने अंतर का एक प्रियतम प्रसंग दृष्टिगोचर करने का निमित्त प्राप्त हुआ है।

संवत् १९९८ की श्रावण कृष्णा एकादशी के दिन सोनगढ़ में महाराजश्री ने सभा के समक्ष प्रवचनसार का प्रवचन प्रारंभ किया था। उसमें ज्ञेय अधिकार के आने पर महाराजश्री के अंतरंग आत्मा में से अपूर्व अचिंत्य और आश्चर्य कारक निर्मल श्रुत का झरना बह निकला था। जिसने

उस निर्मल झरने को समझा होगा, सुना होगा और उसका रसास्वादन किया होगा, उसे उसका आज तक ध्यान होगा।

प्रवचन को सुनते हुये यह भाव उत्पन्न होता था कि यह आश्चर्यकारक आत्म विभूति को देखने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है अथवा किसी अचिंत्य श्रुत की निर्मल श्रेणी को देखने का भाग्योदय हुआ है। सचमुच ही आत्मस्वरूप, वृद्धिरूप, वह धन्य प्रसंग सदा के लिये हृदय के ज्ञान पर अंकित रहेगा।

संवत् १९९८ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी को सोनगढ़ में श्री सनातन जैन ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की गई थी। उसमें तीन वर्ष का अभ्यास क्रम रखा गया था। कितनेक ब्रह्मचारी उसमें भर्ती हुये हैं। उसमें भर्ती होने वाले ब्रह्मचारी तीन वर्ष तक प्रति दिन धार्मिक पुस्तकों की शिक्षा पाते हैं। उस शिक्षण को प्राप्त करके एकांत में स्वाध्याय के द्वारा दृढ़ किया जाता है और वे महाराजश्री के प्रवचनों में तथा भक्ति इत्यादि में भाग लेते हैं। इस प्रकार सारा दिन धार्मिक प्रवृत्ति में जाता है।

पूज्य गुरुदेव ने राजकोट के श्रावकों के आग्रह से और प्रभावनोदय के कारण सं. १९९९ की फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन सोनगढ़ से बढ़वान होकर राजकोट के लिये विहार किया और राजकोट में चातुर्मास करके और कितने काल तक वहाँ रहकर २००० की वैशाख कृष्णा ११ को महाराज श्री ने सोनगढ़ में पुनः प्रवेश किया था। मार्ग में आनेवाले प्रत्येक ग्राम में तथा राजकोट में गुरुदेव ने परमार्थ अमृत की वर्षा की थी और अनेक तृषित जीवों की प्यास बुझाई थी। हजारों भाग्यवान जीव जैन और जैनेतर इन अमृत वर्षा से परम संतुष्ट हुये थे। अनेक जैनेतरों भी महाराज के आध्यात्मिक उपदेश से प्रभावित होकर दिंग हो गये थे। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि जैनदर्शन में मात्र बाह्य क्रिया का प्रतिपादन नहीं है किन्तु वह सूक्ष्म तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण है, तब उन्हें और अधिक बहुमान उत्पन्न हो गया। प्रत्येक ग्राम के बालकों, युवकों और वृद्धों में–जैन और जैनेतरों में महाराज श्री ने आत्म विचार का प्रबल आंदोलन कर दिया है और डंके की चोट यह घोषित किया है कि 'इस महा अमूल्य मनुष्य भव में जिस जीव ने देह, वाणी और मन से पर ऐसे परम तत्त्व की प्रतीति नहीं की, उसकी रुचि भी नहीं की तो यह मनुष्य भव निष्फल है।'

यह अमृत सिंचक योगीराज काठियावाड़ से बाहर नहीं गये। उनमें ऐसी अद्‌भुत शक्ति दिखाई देती है कि यदि वे हिन्दुस्तान में विहार करें तो समस्त भारतवर्ष में धर्म की प्रभावना करके हजारों तृषित जीवों की तृषा को बुझा देंगे।

ऐसी अद्‌भुत शक्ति के धारक पवित्रात्मा श्री कानजीस्वामी काठियावाड़ की महा प्रतिभाशाली

विभूति हैं। उनके परिचय में आनेवाले व्यक्ति पर उनके प्रतिभा युक्त व्यक्तित्व का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। वे अनेक सद्गुणों से अलंकृत हैं। उनकी कुशाग्र बुद्धि प्रत्येक वस्तु के अंतस्तल तक उतर जाती है। उनकी स्मरण शक्ति अनेक वर्षों की बातों को तिथि और वार सहित याद रख सकती है। उनका हृदय वज्र से भी कठिन और कुसुम से भी कोमल है। वे अवगुणों के प्रति अनम (नहीं नमनेवाले) होकर भी सामान्य गुण दिखाई देने पर नम जाते हैं। बाल ब्रह्मचारी कानजीस्वामी अध्यात्मरस आत्मानुभवी पुरुष हैं। उनकी नश नश में अध्यात्म रस व्याप्त है। उनके प्रत्येक शब्द में आत्मानुभव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके प्रत्येक श्वास में वीतराग-वीतराग की ध्वनि निकला करती है। कानजीस्वामी काठियावाड़ के अद्वितीय रत्न हैं। काठियावाड़ कानजीस्वामी से गौरवान्वित है।

पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में से प्राप्त

१— प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रोव्य सहित है, यदि द्रव्य को मात्र ध्रुव माना जाये तो अशुद्ध अवस्था का नाश और शुद्ध अवस्था की उत्पत्ति कैसे बनेगी? और यदि उत्पाद-व्यय माने किन्तु ध्रुव को न मानें तो पर्याय के बदलने पर वस्तु त्रिकाल नहीं रह सकेगी, इस प्रकार वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों ही है।

२— निमित्त से राग नहीं होता, जहाँ राग करता है, वहाँ निमित्त मौजूद होता है।

३— जितना कार्य करता है, उतना उसका फल होता ही है अर्थात् जितना पुरुषार्थ करता है, उतना फल होता ही है। कोई भी कर्म उसे रोक सकने को समर्थ नहीं है।

४— ''जाननेवाला मैं नहीं हूँ किन्तु जो ज्ञान होता है वह मैं हूँ'' इस प्रकार की विपरीत मान्यता अनादि काल से है, इसलिये शरीर की अवस्था को अपनी अवस्था मानता है। वह मान्यता अज्ञान ही है।

५— पर के संयोग के बिना मात्र आत्मा में जो होता है, वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव टल नहीं सकता, पुण्य-पाप टल सकता है, इसलिये वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

यदि निमित्त पर लक्ष न हो तो मात्र आत्मा में विकार नहीं हो सकता, इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि निमित्त शुभाशुभ विकार कराता है। शुभ अशुभभाव का कर्ता तो (विकारी) आत्मा स्वयं ही है। जो परवस्तु के लक्ष्य से विकार करता है, वह परवस्तु विकार का निमित्त कहलाती है।

श्री गुरुदेव की रात्रिचर्चा का एक अंश

प्रश्न—राग-द्वेष आत्मा के नहीं तो किसके हैं ?

उत्तर—आत्मा के स्वरूप के नहीं हैं, वे आत्मा में होते हैं, कहीं जड़ में नहीं होते; किन्तु वे जड़ के संयोग से होते हैं, इसलिये वे जड़ के कहे जाते हैं।

ज्ञान में (ज्ञान करने में) स्वयं विकारभाव करते हैं—किन्तु जड़ में विकार (राग-द्वेष) नहीं होते।

प्रश्न—ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जानना। (जानने में राग-द्वेष, ज्ञान का स्वरूप नहीं है) 'मैं इसे जानता हूँ' यों कहा जाता है किन्तु वास्तव में पर का नहीं लेकिन अपने ज्ञान की पर्याय को जानता है।

जब चेतन (स्व लक्ष्य को भूलकर) जड़ पक्ष में लक्ष्य करता है, तब राग-द्वेष होता है अर्थात् वह राग-द्वेष जड़ पक्ष में जाता है। चेतन, जड़ की ओर लक्ष्य करता है कि 'मुझे इससे लाभ या हानि होगी' तब राग-द्वेष होता है।

प्रश्न—चेतन तो असंग स्वभावी है, वह पर संग (परलक्ष्य) क्यों करता है ?

उत्तर—शक्ति से असंग है किन्तु वर्तमान (पर्याय) में संग की योग्यता है।

आत्मा जगत की एक स्वतन्त्र वस्तु है, उसका ज्ञान गुण अनादि-अनन्त है। उसकी अनादि काल से विकारी अवस्था है। जब यथार्थ प्रतीति होती है, तब विकार अवस्था दूर होती है।

❖ ❖ ❖

सद्गुरु का संसर्ग दुर्लभ है

सद्गुरु के संसर्ग की आवश्यकता

सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्र के धारक हैं। वे संपूर्ण प्राणियों पर दया करते हैं, वे लाभ या सत्कार पुरस्कार की आकांक्षा नहीं रखते। जीव चतुर्गतियों में हजारों यातनाएं भोगता है, यह देखकर उनके हृदय में दया का प्रवाह बह निकलता है। वे विचार करते हैं कि — "अहो, यह अज्ञानी जीव, मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामों से गतियों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का बंध कर रहे हैं, वे कर्मों से मुक्त होने का उपाय नहीं जानते; इसलिए यह दीन प्राणी दुःखरूपी समुद्र में प्रवेश करके दुःख भोग रहे हैं।" ऐसे सद्गुरु का संसर्ग होना दुर्लभ है।

ज्ञान की प्राप्ति के बिना सच्ची देव पूजा इत्यादि नहीं हो सकती। यदि जीव, सद्गुरु की सेवा नहीं करता तो उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान के बिना आत्मा का हित करनेवाली देव पूजा, स्वाध्याय इत्यादि कार्यों का स्वरूप नहीं जाना जा सकता और इसीलिये मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती।

सत्पुरुष का उपदेश सुनना चाहिये

दैवयोग से सत्पुरुष का सहवास भी प्राप्त हुआ किन्तु उनसे हित का उपदेश नहीं सुना, तो उनके सहवास का लाभ जीव को नहीं मिलता। यदि हम खेत में बीज नहीं बोते और अच्छी जलवृष्टि होती है तो उस वृष्टि से क्या लाभ? इसी प्रकार यदि सत्पुरुष का उपदेश नहीं सुना तो उनका सहवास व्यर्थ ही समझना चाहिये।

श्रोताओं को अरुचि छोड़ना चाहिये

सत्पुरुषों के उपदेश को सुनने के लिये जाकर कोई तो वहाँ पर सोते हैं अथवा अपने पास बैठे हुये लोगों से बातें करते हैं या उनकी बातें सुनते हैं। सत्पुरुष के उपदेश की ओर उनका लक्ष्य नहीं जाता, अथवा उसके प्रति अरुचि हो जाती है।

वस्तु स्वरूप की सूक्ष्मता

सत्पुरुष के वचनों को सुनकर भी उनके अभिप्रायों को ध्यान में रखना दुर्लभ है; क्योंकि जीवादि वस्तुओं का स्वरूप सूक्ष्म है और पूर्व काल में कभी सुना नहीं है, इसलिये उनके अभिप्राय को ठीक-ठीक समझना मुश्किल है।

श्रद्धा को प्रगट करना दुर्लभ है

यदि कभी बुद्धि का विकास होने से जीवादि का स्वरूप जान ले—धर्म के स्वरूप को समझ ले तो भी जीवादि के स्वरूप में तथा धर्म के स्वरूप में श्रद्धा को उत्पन्न करना दुर्लभ है।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिये महापुरुषार्थ की आवश्यकता

मनुष्य सत् धर्म का स्वरूप महापुरुषार्थ से समझ सकता है। ज्ञान होने के बाद धर्म में प्रवृत्ति करने के लिये उससे भी अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जिनने जीवादि तत्त्व के स्वरूप को समझ लिया है, उन मनुष्यों को धर्म स्वरूप को जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये। धर्म का आचरण करते हुये प्रमाद को छोड़ देना चाहिये। एक क्षणभर के लिये भी प्रमाद का आश्रय नहीं लेना चाहिये।

तत्त्वज्ञ और मूढ़ के कार्य क्षेत्र

तत्त्वज्ञ मनुष्य, मोक्ष की जड़-सद्धर्म में अपने हृदय को स्थिर करते हैं।

मूढ़ मनुष्य अहितकारी में ही प्रयत्न करते हैं और परम हितकर धर्म में सदा आलसी बने रहते हैं, उनके लिये यह योग्य ही है क्योंकि यदि ऐसे मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करें तो उनका संसार में परिभ्रमण क्यों कर हो।

सच्ची सल्लेखना

जिन्हें अपने रत्नत्रय में लगे हुये दोषों को दूर करने की भावना हैं, वे सद्गुरुओं का आश्रय लेते हैं। यदि रत्नत्रय को निर्मल करने की भावना ही नहीं है तो यह साधु लिंग व्यर्थ में किसलिये धारण किया है?

चार प्रकार के आहार का त्याग कर देने मात्र से सल्लेखना नहीं होती किन्तु कषायों का त्याग करने से सल्लेखना होती है और जब वह सल्लेखना होती है, तभी संवर-निर्जरा होती है। कषायों से नये कर्मों का ग्रहण होता है, बंध होता है, स्थिति होती है।

ग्राहकों से निवेदन

आपका वार्षिक मूल्य १२ वें अंक के साथ पूरा हो रहा है, इसलिये दूसरे वर्ष का (अंक १३ से २४ तक का) मूल्य तीन रुपया मनिआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

आपके पास दूसरे वर्ष का प्रथम (१३ वाँ) अंक (वैशाख का) भेजा जा चुका है और दूसरा (१४ वाँ) अंक तैयार हो रहा है जो शीघ्र ही आपके पास पहुंचेगा।

यदि आषाढ़ शुक्ला १५ तक आपका मूल्य तीन रुपया मनिआर्डर से नहीं आ जायेगा तो तीसरा (पंद्रहवां) आषाढ़ का अंक आपके पास सवा तीन रुपया की वी.पी. से भेजा जायेगा।

उसके बाद चौथा (सोलहवां-श्रावण का) अंक श्रावण शुक्ला द्वितीया को प्रगट होगा।

सभी ग्राहक बंधु यदि मात्र एक नया ग्राहक बना दें तो आत्मधर्म का अच्छा प्रचार होगा और आत्मधर्म की आर्थिक कठिनाई भी कम हो जायगी। आशा है कृपालु ग्राहक मेरे इस निवेदन पर ध्यान देंगे। —प्रकाशक

सूचना

वैशाल शुक्ला त्रीज से आत्मधर्म कार्यालय सोनगढ़ से मोटा आंकडिया आ गया है, इसलिये अब आत्मर्ध संबंध समस्त पत्र व्यवहार आत्मधर्म कार्यालय मोटा आंकडिया (काठियावाड) के पते पर करे। स्मरण रहे कि पोष्टल गाइड में यहाँ का नाम AKADIA MOTA छपा हुआ है। -व्यवस्थापक